विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४७

कठोपनिषद्

[सर्वसाधारण द्वारा सरलतापूवक समझे जाने योग्य हिन्दी व्याख्या तथा विस्तृत भूमिका सहित]

तथा

(प्रत्येक छन्द के अन्त में बड़े कोष्ठक के अन्तर्गत प्रदत्त शाङ्करभाष्य सहित)

हिन्दी-व्याख्याकार—

आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी), पी-एच० डी०

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

टाउन (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, बलिया

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४७

कठोपनिषद्

[सर्वसाधारण द्वारा सरलतापूवक समझे जाने योग्य हिन्दी व्याख्या तथा विस्तृत भूमिका सहित]

तथा

(प्रत्येक छन्द के अन्त में बड़े कोष्टक के अन्तर्गत प्रदत्त शाङ्करभाष्य सहित)

हिन्दी-व्याख्याकार—

आचार्य डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी), पी-एच० डी०

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

टाउन (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, बलिया

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

अध्यात्म-विद्या के प्रेमियों ने हमारे इस कठोपनिषद्-भाष्य का जो सम्मान किया है उसके लिये मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ।

प्रथम संस्करण के प्रकाशन में कुछ यत्र-तत्र अशुद्धियाँ रह गई थीं—जिसका मुझे खेद है। अब इस द्वितीय संस्करण में उन सभी अशुद्धियों का परिष्कार कर दिया गया है। साथ ही कुछ आवश्यक परिवर्द्धन और परिवर्तन भी किये गये हैं, जिनको देखकर पाठकों को प्रथम-संस्करण की अपेक्षा और भी अधिक सन्तोष-लाभ होगा तथा ज्ञानार्जन में भी सारल्य की अनुभूति होगी।

मुझे विश्वास है कि पहले की ही भाँति पाठकगण इसे भी अपनायेंगे।

बलिया
ई० १९७२ }

सुरेन्द्रदेव शास्त्री

भूमिका

उपनिषद् शब्द की रचना, अर्थ तथा भाव और उसकी सार्थकता

उपनिषद् शब्द का निर्माण उप+नि उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने से होता है। सद् धातु के तीन अर्थ लिये जाते हैं (१) 'विशरण' अर्थात् नाश होना, (२) 'गति' अर्थात् प्राप्त होना तथा (३) 'अवसादन' अर्थात शिथिल करना। [इसके अतिरिक्त 'उप+नि+सद्' का अर्थ बैठना भी होता है। इसका भाव यही हो सकता है कि गुरु के समीप शिष्य का शिक्षा-ग्रहणार्थ बैठना। संभवत: प्राचीन काल में इसका यही अर्थ लिया जाता था। अथवा ब्रह्म के समीप बैठना' अर्थ लिया जाता रहा होगा, जिसका भाव यही हो सकता है कि ब्रह्म की प्राप्ति के जो साधन उपनिषदों में बतलाये गये हैं उन साधनों के अनुसार अपने जीवन का निर्माण कर उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त लोग प्रयत्न करते थे तथा उसकी प्राप्ति भी कर लेते थे। ब्रह्म के समीप बैठने का भाव यही हो सकता है।] सद् धातु के इन तीनों अर्थों में से यहाँ 'प्राप्त होना' अर्थ ही लिया जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। (उप) ब्रह्म की समीपता (नि) निश्चय करके जिससे (सद्) प्राप्त हो, उसका नाम 'उपनिषद्' है। अत: ब्रह्म-प्राप्ति के साधनभूत ग्रन्थ का नाम भी 'उषनिषद्' हुआ। इसकी व्युत्पति इस प्रकार की जा सकती है :—'उप ब्रह्मसामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्' अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म की समीपता प्राप्त हो उसको 'उपनिषद्' कहते हैं।

सर्वव्यापक ब्रह्म की यह समीपता एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त कर लेने के सदृश नहीं प्राप्त हुआ करती है। इसकी प्राप्ति का साधन तो एक मात्र ब्रह्मज्ञान ही है। अत: यहाँ इसका भाव इस प्रकार लेना चाहिये कि जिस ज्ञान अथवा विद्या के द्वारा उस परमात्मा का सामीप्य अर्थात् साक्षात्कार प्राप्त हो वह विद्या अथवा ज्ञान ही उपनिषद् है। [illegible]

को एक शब्द में "ब्रह्मविद्या" अथवा "ब्रह्मज्ञान" कहा गया। इस विद्या अथवा ज्ञान के प्रतिपादक होने के कारण ग्रन्थ का नाम भी उपनिषद् पड़ा।

समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि का कारण वह ब्रह्म ही है, जैसा कि वेदान्तदर्शन के 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) में स्पष्ट किया गया है कि जिससे इस समस्त ब्रह्माण्ड का जन्म, स्थिति तथा प्रलय होता है उसी का नाम ब्रह्म है। यह ब्रह्म ही उपनिषदों में उपास्य-देव स्वीकार किया गया है। अतः ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान अथवा अध्यात्मविद्या या अध्यात्मज्ञान का वर्णन करना ही उपनिषदों का प्रधान विषय है। इन उपनिषदों का अध्ययन करने से मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले साधकजनों का अज्ञान नष्ट हो जाया करता है तथा उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इस ज्ञान का सम्यक् अनुशीलन करने से आवागमन (जन्म और मृत्यु सम्बन्धी बन्धन) सम्बन्धी समस्त दुःखों का विनाश हो जाता है। दुःखों के इस आत्यन्तिक विनाश का ही नाम 'मुक्ति' अथवा 'मोक्ष' है, जिसका स्थान मानव-जीवन के लक्ष्यीभूत चारों पुरुषार्थों में सर्वोपरि है।

शंकराचार्य ने भी कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् की व्याख्या करते हुए 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या ही किया है। उपनिषदों में सर्वत्र ब्रह्म के स्वरूप तथा जीव एवं जगत् सम्बन्धी अनेक विषयों का सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा सार्थक ही है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ 'रहस्यमय सिद्धान्त' भी माना गया है। कारण यह है कि उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' तथा 'इति उपनिषदम्' शब्द अनेक स्थलों पर आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रहस्य भी उपनिषद् का पर्यायवाची शब्द ही है। वस्तुतः ब्रह्म, जीव एवं जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय ही है। आधुनिक युग में भी जिस 'रहस्यवाद' की चर्चा साहित्यिक क्षेत्र में चला करती है वह रहस्यवाद भी आत्मा, परमात्मा एवं जगत् आदि के वर्णन से ही सम्बन्धित माना जाता है। अतएव 'रहस्य' शब्द भी यदि उपनिषद् के स्थान पर प्रयुक्त किया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि दोनों के भाव अथवा अर्थ में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती।

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है।

'वेदान्त' शब्द द्वारा भी इनका कथन किया गया है।

यह वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। यह विद्या ही सर्वत्र समत्व का दर्शन कराती तथा अज्ञान की ग्रन्थियों को काटती है। इसी के द्वारा हमारे कर्म सुसंयत होते तथा मन अन्तर्मुखी हुआ करता है। इसी के द्वारा सांसारिक मिथ्या-ज्ञान की अनुभूति का विनाश एवं परमसत्य की उपलब्धि हुआ करती है। परमसत्य-स्वरूप तो एकमात्र ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म की प्राप्ति ही इस ब्रह्मविद्या का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। इस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन वैदिक साहित्य के जिस सर्वोत्कृष्ट भाग में किया गया है उसी का नाम 'उपनिषद्' है।

उपनिषदों की संख्या—आज लगभग ११२ उपनिषद् उपलब्ध होते हैं। मुक्तिकोपनिषद् में उपनिषदों की संख्या १०८ बतलाई गई है। संभव है कि मुक्तिकोपनिषद् की रचना के अनन्तर कुछ अन्य उपनिषदों की रचना हुई हो। किन्तु लोक में विशेषरूप से ११ उपनिषदों के ही नाम प्रसिद्ध रहे हैं और वे हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वेतर।

उपनिषदों की रचना-शैली—उपनिषदों की रचना-शैली में विभिन्नता उपलब्ध होती है। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक तथा कुछ गद्य-पद्यात्मक उभयरूप हैं। सभी उपनिषद् भारतीय अध्यात्मविद्या के देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी प्रभा पर काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जैसे-जैसे इनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है वैसे ही वैसे नवीन-नवीन विषयों का ज्ञान पाठकों को सदैव उपलब्ध होता है। भारतीय ऋषियों ने अपने प्रतिभापूर्ण नेत्रों से जिन आध्यात्मिक तत्वों का साक्षात्कार किया था उन्हीं तत्वों से उपनिषद् भरे पड़े हैं।

उपनिषद् किसी एक शताब्दी की रचना नहीं हैं। इनकी रचना अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास के परिणामस्वरूप हुई है। अतः उनमें भिन्नता एवं परस्पर विरोधी भावों का उपलब्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुतः यह विरोध केवल बाह्य-रूप से ही है। उनका सम्यक् अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सभी उपनिषदों में एक ही तत्व का वर्णन विशेष रूप से किया गया है जिसके अनुसार जगत् की पहेली को भली-भाँति सुलझाने का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। ऋषियों ने इस नानात्मक

तथा सदा परिवर्तनशील संसार के मूल में विद्यमान रहने वाले उस शाश्वत पदार्थ को खोज निकाला था जिसे कि हम ब्रह्म कहते हैं। यह ब्रह्म अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन्हीं अनन्त शक्तियों के आधार पर उसके अनेक नाम हैं। इन सभी नामों का अन्तर्भाव "ओम्" [अ, उ, म्] के अन्तर्गत हो जाता है। अतः उसका सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओम्' है। इसी का सूक्ष्म विश्लेषण माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है।

आत्मा शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का ग्रहण किया जाता है। परमात्मा तथा ब्रह्म दोनों पर्यायवाची हैं। अतः उक्त ब्रह्म का ही नाम परमात्मा है।

जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही नित्य अविनाशी हैं। दोनों ही अजर तथा अमर हैं। दोनों में यही अन्तर है कि एक (जीवात्मा) अपने किये हुये कर्मों के फल का भोक्ता है और दूसरा (परमात्मा) कर्मों के फल को भुगताने वाला है। इसी का वर्णन कठोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र में इस भाँति किया गया है :—

> ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
> छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।१।३।१।।

दोनों का सम्बन्ध छाया और धूप के सदृश बतलाया गया है। जीवात्मा छाया के सदृश स्वल्प प्रकाशयुक्त अथवा अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप के समान पूर्ण प्रकाशयुक्त अथवा सर्वज्ञ है।

जीवात्मा जब सर्वश्रेष्ठ योनि (मानवयोनि) को प्राप्त करता है तो अपने जीवन के लक्ष्यीभूत उस परमात्वतत्व की प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा करता है। इसी की प्राप्ति का साधन आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या है।

यह ज्ञान इन्द्रियों एवं मन तथा बुद्धि आदि के द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति का साधन योग ही है। योग अर्थात् अपने चित्त की वृत्तियों को एकाग्र कर स्थिर कर लेने [योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।] के अनन्तर ही मनुष्य उस ब्रह्म की प्राप्ति का पात्र बनता है और तत्पश्चात् उस ब्रह्म का ध्यान करने से वह [illegible] की भावना से पृथक् होकर अपने

तथा ब्रह्म में किसी प्रकार के भेद का अनुभव नहीं करता। इस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार कर वह अन्त में अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

प्रायः सभी उपनिषदों में उस महान् ब्रह्मतत्व का ही नाना प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। साथ ही उसकी प्राप्ति के विभिन्न साधनों का भी उल्लेख किया गया है। साधनों में भिन्नता हो सकती है किन्तु अन्त में पहुँचने का स्थान एक ही है। लोक में भी किसी एक ही स्थान पर पहुँचने के अनेक मार्ग हुआ करते हैं। कोई किसी मार्ग से और अन्य किसी दूसरे मार्ग से। इस प्रकार विभिन्न मार्गों से विभिन्न व्यक्ति उस स्थान तक पहुँचा करते हैं परन्तु पहुँचने का स्थान एक ही है। इसी प्रकार उस ब्रह्म की अवाप्ति (प्राप्ति) के साधन अनेक हैं। साध्य अथवा प्राप्य वस्तु केवल एक ब्रह्म ही है।

अतः उपनिषदों को एक ऐसा आध्यात्मिक मानसरोवर कहा जा सकता है कि जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकलकर इस पुण्यभूमि में मानव मात्र के इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिए प्रवाहित होती हैं। इस ज्ञान की सरिता में जो व्यक्ति सच्ची भावना एवं मानसिक एकाग्रता के साथ स्नान कर लेता है वह उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर आत्मसाक्षात्कार कर अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

वैदिक-धर्म की मूलतत्व-प्रतिपादिका 'प्रस्थानत्रयी' मानी गयी है जिसके अन्तर्गत उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) आते हैं। इस प्रस्थान-त्रयी में उपनिषद् को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है, क्योंकि गीता एवं ब्रह्मसूत्र की आधारशिला उपनिषद् ही है। भारतीय वैदिक-वाङ्मय के साहित्य में उपनिषदों का वास्तविक स्वरूप यही है।

कठोपनिषद् का स्वरूप—कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत आता है। इस कारण इस उपनिषद् का नाम भी कठोपनिषद् पड़ गया। कठोपनिषद् का दूसरा नाम 'नचिकेतोपाख्यान' अथवा 'नाचिकेतस उपाख्यान' भी है।

वस्तुतः सभी उपनिषद् प्रायः आरण्यक ग्रन्थों के ही विशिष्ट अङ्ग हैं। सायणाचार्य की सम्मति में अरण्य में पाठ्य होने के कारण इन ग्रन्थों के मनन का स्थान अरण्य का एकान्त, शान्त वातावरण ही उपयुक्त था। आरण्यकों

का मुख्य विषय यज्ञ और यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा करना है। वेद के मन्त्रों में इन तथ्यों का स्पष्ट संकेत हमें उपलब्ध होता है। आरण्यकों में इन्हीं बीजों का अथवा बीजभूत तथ्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अतः उपनिषद् विशेषरूप से आरण्यकों के भाग माने जाते हैं और उनमें भी इन्हीं आध्यात्मिक विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है जिनका सूक्ष्म संकेत हमें वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है।

कठोपनिषद् के अध्ययन से भी उपर्युक्त बात की ही पुष्टि होती है। इस उपनिषद् में भी महान् अध्यात्मतत्व का गंभीर विश्लेषण किया गया है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में ३–३ वल्लियां हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतरूप में विद्यमान नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से उसका प्रारम्भ होता है। नचिकेता के विशेष एवं बारंबार आग्रह करने पर यमाचार्य उसे अध्यात्म-तत्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं।

सांसारिक आवागमन एवं जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है और यह तभी संभव है जब कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लें। इसके निमित्त आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान-रूपी साधन का आश्रय प्राप्त करना परमावश्यक है, क्योंकि साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति किया जाना संभव है।

अथवा उपर्युक्त लक्ष्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि—त्रिविध तापों अथवा दुःखों से पूर्णरूप से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवन का प्रधान उद्देश्य है। ये त्रिविध ताप हैं—(१) आध्यात्मिक ताप (२) आधिदैविक ताप और (३) आधिभौतिक ताप। उदाहरणार्थ—(१) शरीर जब ज्वरादि शारीरिक कष्टों से अभिभूत हो जाता है तब यह आध्यात्मिक ताप कहलाता है। (२) अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि आदि आधिदैविक ताप हैं। (३) सर्प इत्यादि के द्वारा काट लिया जाना अथवा अन्य प्राणियों द्वारा प्राप्त होने वाले कष्ट आधिभौतिक ताप हैं। इन्हीं त्रिविध तापों, कष्टों अथवा दुःखों के अन्तर्गत विश्व के समस्त दुःखों अथवा कष्टों का समावेश हो जाता है। इन तीनों ही प्रकार के दुःखों का जब अत्यन्त अभाव हो जाता है तब यही स्थिति अथवा अवस्था मुक्ति अथवा मोक्ष अथवा परमधाम आदि शब्दों द्वारा कही जाती है।

सांख्य तथा न्यायदर्शनकारों ने इसी बात का विश्लेषण निम्नलिखित सूत्रों द्वारा किया है :—

"अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" ।

[सांख्यसू० अध्याय १ । सू० १ ।]

अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—इन तीनों ही प्रकार के दुःखों (तापों) से छुटकारा प्राप्त कर लेने का ही नाम अत्यन्त पुरुषार्थ अथवा मोक्ष है ।

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" [न्यायद० १ । १ । २२ ॥]

उन दुःखों का अत्यन्त उच्छेद अथवा अभाव हो जाना ही अपवर्ग अथवा मोक्ष कहलाता है ।

इस स्थिति अथवा अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मानव जीवन का प्रधानतम उद्देश्य है । इस स्थिति को प्राप्त कर मानव भगवान् के उस आनन्द की अनुभूति करने लगता है जिसकी प्राप्ति के लिये वह सतत् प्रयत्नशील रहा करता है । जीवात्मा सत् एवं चित् है और परमात्मा सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है । दोनों में मात्र आनन्द का ही अन्तर है अर्थात् जीवात्मा में आनन्द नहीं है । जब इस आनन्द की अनुभूति मानव को होने लगा करती है तब वह अपने को भूल जाता है और उस चिरन्तन आनन्द की अनुभूति में अपने को लय कर दिया करता है । इसी का नाम तन्मयावस्था है । इस अवस्था अथवा मानव जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रधान साधन है—आत्मज्ञान । परन्तु अपने शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान और सर्वव्यापक परम आत्मतत्व के ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले अपने आपको उस ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बनायें । कठोपनिषद् में यमाचार्य ने नचिकेता की अनेक प्रकार से परीक्षा ली और जब इस परिणाम पर पहुँच गये कि नचिकेता वास्तव में आत्मज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी है तो उस समय ही यमाचार्य ने नचिकेता को आत्मज्ञान-सम्बन्धी उपदेश दिया है । इस भावना को कठोपनिषद् के निम्न वाक्य द्वारा इस भाँति स्पष्ट किया गया है :—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामा न भिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो, यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

कठो० १।२।३॥

अतः—

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥

कठो० १।२।४॥

उस आत्मतत्व के साक्षात्कार का प्रधान साधन योग ही है। पतञ्जलि मुनि के सिद्धान्तानुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (अर्थात् अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग है) योग का लक्षण है। योग के इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को पहले अपने चित्त की एकाग्रता स्थापित करनी पड़ती है और जब मानव इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता अथवा स्थिरचित्तता प्राप्त कर लेता है तब वह आत्मचिन्तन करने का अधिकारी होता है। इस अधिकारी की योग्यता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य की प्रायः सम्पूर्ण सांसारिक अभिलाषायें शान्त हो जाती हैं और वह आत्मज्ञान की उपलब्धि से अपने अज्ञान अथवा मायारूपी बन्धन को छिन्न-भिन्न कर अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के दर्शन के निमित्त प्रयत्नशील हो जाता है। एक समय आता है कि जब वह आत्मतत्व का साक्षात्कार कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसी दशा में उसकी अपने शरीर के प्रति भी कोई किसी प्रकार की आकांक्षा अवशिष्ट नहीं रह जाती और वह अपने आपको इस मायाजन्य संसार से पृथक् देखता है। जब इस प्रकार की अवस्था प्राप्त हो जाती है तब उसी को शास्त्रकारों ने जीव-मुक्तावस्था नाम से अभिप्रेत किया है। इसके पश्चात् वह आत्मा अपने इस भौतिक शरीर की समाप्ति के अनन्तर उस परम-आत्मतत्व में लीन हो जाता है। इसी को हम मोक्ष अथवा परमधाम कहते हैं।

जब मानव को जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है और तदनन्तर इस शरीर का त्याग हो जाने पर वह परब्रह्म परमात्मा के उस आनन्द की अनुभूति पूर्णरूप से करने लगा करता है जिसके लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील था और इस भाँति वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप होकर उस मोक्ष के आनन्द में लीन रहा करता है। अतः उसकी यह आनन्द की उपलब्धि कर्मजन्य है और उन कर्मों के [illegible] अनुभूति के एक निश्चित समय के अनन्तर वह पुनः इस लोक में जन्म प्राप्त किया करता है।

इस प्रकार इस कठोपनिषद् में उस आत्मसाक्षात्कार के साधनों का विशेष रूप से वर्णन करते हुए उस अद्वितीय ब्रह्म का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

गोतम, उद्दालक

गोतम, उद्दालक और वाजश्रवा ये नाम एक ही ऋषि के हैं। ये नाम इसी उपनिषद् में स्थान-स्थान पर आये हैं। गोतम गोत्र में उत्पन्न होने के कारण इनका नाम **गोतम** है। अन्नदान करने के कारण इनको **वाजश्रवा** कहा गया। उद्दालक इनका अपना वास्तविक नाम रहा होगा। इसी कारण इस उपनिषद् में 'औद्दालकिः आरुणिः' इनके लिये आया है [उद्दालक एवं औद्दालकिः] अरुण के पुत्र आरुणि, उद्दालक ही हैं। शङ्कराचार्य द्वारा वाजश्रवस्, औद्दालकि तथा आरुणि शब्दों के अर्थ निम्नलिखित रूप में किये हैं—

वाजश्रवसः। वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा। तस्यापत्यं वाजश्रवसः॥

औद्दालकिः। उद्दालक एव औद्दालकिः॥

आरुणिः। अरुणस्यापत्यम् आरुणिः। द्वयामुष्यायणो वा॥

कठोपनिषद् का कथानक—इस उद्दालक नामक ऋषि ने सर्वमेध अथवा विश्वजित नामक यज्ञ किया। इस यज्ञ में अपना सर्वस्व (सब कुछ) दान दे देना पड़ता है। अतः उसने अपना सब कुछ समर्पण करके इस यज्ञ को किया। उस समय गोधन ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था। इस ऋषि के एक पुत्र था जिसका नाम था नचिकेता। उसके पिता उद्दालक ने कुछ उत्तम गायों को अपने पुत्र नचिकेता के लिये सुरक्षित रख लिया था तथा कुछ न देने योग्य वृद्धा गायों को भी छोड़ रखा था। जब उस ऋषि ने सब कुछ दान में दे डाला तब भी उसको दान देना अवशिष्ट रह गया था। अतः उसने उन अदेय वृद्धा गायों का दान करना प्रारम्भ किया। 'इस प्रकार की अदेय वस्तुओं का दान में देना शास्त्रविरुद्ध कहा गया है तथा ऐसी अदेय वस्तुओं आदि को दान में देने से पाप ही जमा करना है और परिणामस्वरूप नरक का भागी भी बनना

पड़ता है।' इस सिद्धान्त को नचिकेता भलीभाँति जानता था। उसने सोचा

कि इन अदेय गायों का दान करने से पिता को पुण्य के स्थान पर पाप ही लगेगा और परिणामस्वरूप वे नरक के ही भागी होंगे । पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता को नरक में जाने से बचाये (पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति ही इस अर्थ की द्योतक है)–पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः'' । इसके अतिरिक्त–मनुस्मृति में भी पुत्र शब्द के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन करते हुये स्पष्ट किया गया है—

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्माद् त्रायेते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।। मनु० ६।१३५ ।।

इस बात को ध्यान में रखते हुए उसने निर्णय किया कि पिता मेरे मोह के चक्कर में फँसे हुए हैं और इसी कारण उन्होंने कुछ गायें मेरे हेतु बचा रखी हैं । मैं ही उनका सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति हूँ । 'सिद्धान्ततः सर्वमेध-यज्ञ में अपना कहा जाने वाला सब कुछ दान दे देना पड़ता है ।' इस दृष्टि से उन्हें मेरा भी दान करना ही होगा । अतः उस स्थिति के आने से पूर्व मैं ही यदि अपने पिता से पूछ लूँ कि आप मुझे किसको दान में देंगे ? तो ऐसा हो जाने पर मेरे कारण बची हुयी उत्तम गायों का ही वे दान करेंगे और अदेय गायों का दान न करेंगे क्योंकि 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' । अतः उसने अपने पिता से तीन बार पूछा कि आप मुझे किसको दान में देंगे । अनेक बार पूछने पर पिता उद्दालक को क्रोध हो आया और उनके मुख से निकल पड़ा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ । किन्तु ऐसा कहने के पश्चात् पिता उद्दालक को शोक व दुःख होने लगा । नचिकेता ने जब यह देखा कि मेरे पिता को अपने कहे हुए का बड़ा ही दुःख व पश्चाताप हो रहा है तो वह अपने पिता से कहने लगा कि आप इसका शोक न कीजिये और अपने से पूर्व के तथा इस समय के भी उन महापुरुषों को देखिये कि वे जो कह देते हैं, वही करते हैं तथा उस सम्बन्ध में शोक भी नहीं करते हैं । आप भी वैसा ही कीजिए ।

इसके अनन्तर नचिकेता मृत्यु (यम) के समीप चला जाता है । वह ज़ब उनके घर पहुँचता है तो उसे ज्ञात होता है कि 'यम' घर पर विद्यमान नहीं हैं । वह बिना अन्न-जल लिये ही उनके दरवाजे पर पड़ा रहता है । तीन दिन पश्चात यम आते हैं तो उनकी पत्नी उनको बतलाती है कि अपने दरवाजे पर बिना अन्न-जल को ग्रहण किये ३ दिन से अतिथि पड़ा हुआ है । जिस गृहस्थ पुरुष के दरवाजे पर इस प्रकार से भूखा अतिथि पड़ा रहा करता है उसको

सम्पूर्ण पुण्यकर्म आदि नष्ट हो जाया करता है। अतः आप सर्वप्रथम इस अतिथि को प्रसन्न करने का प्रयास करें। यम नचिकेता के समीप जाकर उनको नमस्कार कर कहते हैं कि आप हमारे दरवाजे पर तीन दिन तक बिना अन्न-जल लिये हुए पड़े रहे हैं अतः प्रतिदिन के हिसाब से एक-एक वर अर्थात् कुल तीन वरों की याचना हमसे कर लीजिये। यह सुनकर नचिकेता ने प्रथम वर में इस लोक से सम्बन्धित वर की याचना की। उसे अपने पिता की चिन्ता थी, वह सोच रहा था कि मेरे पिता मेरे शोक में ही पड़े रहेंगे और इस भाँति वे अपने द्वारा किये हुए विश्वजित् यज्ञ के फल के भागी भी न हो सकेंगे। अतः उसने यम से कहा कि मेरे पिता प्रसन्न और क्रोधरहित तथा शान्तमन हो जावें तथा आपके समीप से लौटकर जब मैं उनके समीप वापस पहुँचूँ तब वे मुझसे प्रेमपूर्ण ही व्यवहार करें। यम ने उसकी इच्छानुसार प्रथम वर प्रदान किया और द्वितीय वर माँगने के लिये कहा। नचिकेता ने दूसरा वर परलोक अथवा स्वर्गलोक के सम्बन्ध में माँगा। 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाला यज्ञ करे। इस आधार पर उसने स्वर्ग के साधनभूत यज्ञ तथा यज्ञाग्नि के विधि एवं विधान के बारे में जानना चाहा। यमाचार्यने इस विधान को उन्हें पूर्णरूप से बतलाया और साथ ही नचिकेता की परीक्षा भी ली कि वस्तुतः वह इस स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले यज्ञ और यज्ञादि के बारे में क्या समझा है? नचिकेता ने ज्यों का त्यों उनको बतला दिया। इससे प्रसन्न होकर यमाचार्य ने अपनी ओर से उसे यह वर और प्रदान किया कि यह अग्नि उसी नचिकेता के नाम से संसार में प्रसिद्ध हो। इसके अनन्तर नचिकेता से तृतीय वर माँगने को कहा।

नचिकेता का तृतीय वर सम्बन्धी प्रश्न आनन्दलोक की प्राप्ति से सम्बन्धित था। आनन्दलोक अथवा परमधाम या मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन आत्मज्ञान की प्राप्ति है। इस आत्मज्ञान को वह जानना चाहता था। अतः तृतीय वर में उसने आत्मतत्त्व के बारे में ही वर माँगा। आचार्य यम जानते थे कि आत्म-ज्ञान का जो अधिकारी हो उसी को यह ज्ञान देना चाहिये, अन्यको नहीं। अतऽ उन्होंने नाना प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों की प्राप्ति का लोभ देकर नचिकेता की परीक्षा ली। वह उन लोभों में न पड़ा क्योंकि वह सभी सांसारिक विषय-वासनाओं तथा पदार्थों की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता से परिचित

था। परिणामतः वह इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। यम उससे अत्यधिक प्रसन्न हुए और उसे आत्मज्ञान सम्बन्धी विस्तृत उपदेश दिया। नाना प्रकार से उसे समझाया। इस ज्ञान को नचिकेता ने बड़े धैर्य एवं विश्वास तथा शान्ति के साथ श्रवण किया और तदनन्तर उस पर मनन और निदिध्यासन आदि कर उस विष्णुलोक अथवा परमधाम अथवा मोक्ष अथवा परममुक्तावस्था को प्राप्त कर लिया कि जो मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

महाभारत में नचिकेता का उपाख्यान—युधिष्ठिर द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि गोदान का फल क्या है? भीष्म पितामह उत्तर देते हैं :—

भीष्म उवाच—

ऋषिरौद्दालकिर्दीक्षामुपगम्य ततः सुतम्।
त्वं मामुपचरस्वेति नाचिकेतमभाषत ॥ ३ ॥
इध्मा दर्भाः सुमनसः कलशश्चाभितो जलम्।
विस्मृतं मे तदादाय नदीतीरादिहाव्रज ॥ ५ ॥
गत्वानवाप्य तत्सर्वं नदीवेगसमाप्लुतम्।
न पश्यामि तदित्येवं पितरं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ६ ॥
क्षुत्पिपासाश्रमाविष्टो मुनिरौद्दालकिस्तदा।
यमं पश्येति तं पुत्रमशपत्क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७ ॥
तथा स पित्राभिहतो वाग्वज्रेण कृताञ्जलिः।
प्रसीदेति ब्रुवन्नेव गतसत्त्वोऽपतद्भुवि ॥ ८ ॥
नाचिकेतं पिता दृष्ट्वा पतितो दुःखमूर्च्छितः।
किं मया कृतमित्युक्त्वा निपपात महीतले ॥ ९ ॥
पित्र्येणाश्रुप्रपातेन नाचिकेतः कुरूद्वह।
प्रास्यन्दच्छयने कौश्ये वृष्ट्या सस्यमिवाप्लुतम् ॥१०॥
स पर्यपृच्छत्तं पुत्रं श्लाघ्यं पर्यागतं पुनः।
दिव्यैर्गन्धैः समादिग्धं क्षीणस्वप्नमिवोत्थितम् ॥११॥
अपि पुत्र जिता लोकाः शुभास्ते स्वेन कर्मणा।
दिष्ट्या चासि पुनः प्राप्तो न हि ते मानुषं वपुः ॥१३॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पित्रा पृष्टो महात्मना ।
अभ्युत्थाय पितुर्मध्ये महर्षीणां न्यवेदयत् ॥१४॥
वैवस्वतीं प्राप्य सभामपश्यं सहस्रशो योजनहैमभीमाम् ॥१५॥

यम उवाच—

ददानि किंचापि मनःप्रणीतं प्रियातिथेस्तव कामान्वृणीष्व ॥ १६ ॥

नचिकेता उवाच—

अपश्यं तत्र वेश्मानि तैजसानि महात्मनाम् ।
नानासंस्थानरूपाणि सर्वरत्नमयानि च ॥२२॥

क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः शश्वत्स्रोताः कस्य भोज्याः प्रवृत्ताः ॥२८॥
यमोऽब्रवीद्विद्धि भोज्यांस्त्वमेतान् ये दातारः साधवो गोरसानाम् ॥२९॥
तिस्रो रात्र्यस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः ॥३३॥
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षा व्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥३४॥
अनुज्ञातस्तेन वैवस्वतेन प्रत्यागमं भगवत्पादमूलम् ॥५७॥

(म० भा०,अनु० पर्व, १०६ अध्याय)

भीष्मपितामह ने कहा—हे युधिष्ठिर ! गोदान करने का फल सुनो । इस विषय में एक प्राचीन कथा है । औद्दालकि नाम के एक ऋषि थे । उन्होंने यज्ञ की दीक्षा ली । वे नदी पर स्नान करने के लिये गये । वे वहाँ कुश, फूल, पात्र आदि रखकर आश्रम में चले आये । आश्रम में पहुँचकर उन्होंने नचिकेता से कहा–हे पुत्र ! नदी पर जाकर मेरी वहाँ रखी हुई फूल, कुश आदि सामग्री ले आओ । नचिकेता वहाँ गया, नदी किनारे पर उसने इधर-उधर देखा, परन्तु वहाँ वह सामग्री कहीं भी रखी हुई दृष्टिगोचर नहीं हुई । संभवतः वह जल में बह गयी थी । नचिकेता आश्रम में लौट आया । उसने अपने पिता से कहा कि वे पदार्थ वहाँ नहीं हैं । पिता क्रोधित हुए और उन्होंने उसे शाप दे दिया—'तू यम के पास जा' । पुत्र ने हाथ जोड़कर कहा—पिता जी ! प्रसन्न हो जाइये । इसी बीच नचिकेता पर शाप का पूरा प्रभाव हो चुका था अतः वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया । यह देखकर पिता को दुःख हुआ । वह 'मैंने यह क्या किया' ऐसा कहकर रोने लगा । इधर नचिकेता यमलोक पहुँचा । वह एक रात्रि-दिन तक मूर्च्छित रहा । तदनन्तर वह जाग उठा । तब पिता ने

कहा—हे पुत्र ! तुम यम का दर्शन करके वापस आ गये हो, यह तुम्हारा शरीर भी दिव्य शरीर हो गया है। अतः बतलाओ कि वहाँ क्या हुआ ? नचिकेता ने उत्तर दिया कि मैं यमलोक में गया, यम का दर्शन किया। वहाँ की भूमि सुवर्ण की है तथा घर भी सोने के हैं। वहाँ दुग्ध एवं घृत की नदियाँ हैं। मैंने यम से पूछा कि ये नदियाँ किसके लिये हैं ? यम ने बतलाया कि जो सत्पात्रों के लिये गौओं का दान किया करते हैं उन्हीं के लिये ये नदियाँ हैं। गोदान करने वाले यहाँ आकर निवास करते तथा अपनी इच्छानुसार गोरस का सेवन किया करते हैं। इसके अतिरिक्त यमराज ने मुझे ये वर प्रदान किये। ज्ञान का महान् उपदेश दिया। सभी पुण्य लोकों का दर्शन मुझे कराया तथा मुझे दिव्य बना दिया।

यमराज द्वारा आज्ञा दिये जाने पर मैं यहाँ वापस आया हूँ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता की कथा—नचिकेता की इस कथा का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी आया है। कथा का प्रारम्भ लगभग कठोपनिषद् जैसा ही है किन्तु पिता के क्रोधित होने के पश्चात् का वृत्तान्त अवश्य भिन्न है। तै० ब्रा० कां० ३ प्रपाठक ११ के अनु० ८ में निम्न प्रकार से यह कथा आती है :—

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। तँ ह कुमारं सन्तम्।
दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश स होवाच।
तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयमिति।
तं ह परीत उवाच। मृत्यवे त्वा ददामि इति।
तँ ह स्मोत्थितं वागभिवदति। गौतम-कुमारमिति।
स होवाच। परेहि मृत्योर्गृहान्। मृत्यवे त्वाऽदामिति।
तं वै प्रवसन्तं गन्तासीति होवाच। तस्य स्म तिस्रो रात्रीरनश्नन् गृहे वसतात्। स यदि त्वा पृच्छेत्। कुमार, कति रात्रीरवात्सीरिति। तिस्र इति प्रतिब्रूतात्॥
किं प्रथमां रात्रिमाश्ना इति। प्रजां त इति। किं द्वितीयामिति।
पशूंस्त इति। किं तृतीयामिति। साधुकृत्यां त इति।

तं वै सन्तं जगाम । तस्य ह तिस्रो रात्रीरनाश्वान् गृह उवास ।

तमागत्य पप्रच्छ । कुमार कति रात्रीरवात्सीरिति ।

तिस्र इति प्रत्युवाच । किं प्रथमां रात्रिमाश्ना इति ।

प्रजा त इति । किं द्वितीयमिति । पशूंस्त इति ।

किं तृतीयामिति । साधुकृत्यां त इति ।

नमस्ते अस्तु भगव इति होवाच । वरं वृणीष्वेति ।

पितरमेव जीवन्नयानीति । द्वितीयं वृणीष्वेति ।

इष्टापूर्तयोर्मेऽक्षितिं ब्रूहीति होवाच ।

तस्मै हैतमग्निं नाचिकेतमुवाच ।

ततो वै तस्येष्टापूर्ते नाक्षीयेते, इति ।

तस्येष्टापूर्ते क्षीयेते । योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते ।

य उ चैनमेवं वेद, इति ।

तृतीयं वृणीष्वेति । पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहीति होवाच ।

तस्मै हैतमग्निं नाचिकेतमुवाच ।

ततो वै सोऽपपुनर्मृत्युमजयत् । अप पुनर्मृत्युं जयति ।

योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते । य उ चैनमेवं वेद, इति ॥

वाजश्रवा ऋषि ने सर्वमेध यज्ञ किया और उस यज्ञ में उन्होंने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया । उनके नचिकेता नाम का पुत्र था । वह कुमार ही था । जब ब्राह्मण गायें दक्षिणारूप में लेकर जाने लगे तब उस समय उस पुत्र के अन्दर श्रद्धा उत्पन्न हुई । उसने अपने पिता से पूछा कि 'मुझे किसको दोगे ?' उसने दो-तीन बार ऐसा पूछा । पिता क्रोधित हुए और उन्होंने पुत्र से कहा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ ।

इतने में आकाशवाणी हुई और उसने उस कुमार नचिकेता से कहा—हे कुमार ! अब तू मृत्यु के घर जा । जब वह कुमार जाने लगा तो वह वाणी पुनः बोली—हे कुमार ! मृत्यु के घर पहुँचकर तुम तीन रात्रिपर्यन्त भूखे रहना । जब यम तुमसे पूछें कि कितनी रात्रियों तक तुमने यहाँ निवास किया है ? तो कहना कि 'तीन रात्रियों तक' । जब यम पूछें कि प्रथम रात्रि में क्या खाया तो कहना 'तेरी प्रजा (संतान) खायी' । दूसरी रात्रि में क्या खाया ?

ऐसा पूछे जाने पर कहना कि 'तेरे पशु खाये'। तीसरी रात्रि में खाने के विषय में पूछे जाने पर बतलाना कि 'तेरा सुकृत (पुण्य) खाया'।

नचिकेता यम के घर गया। वहाँ तीन रात्रि तक भूखा रहा। यम द्वारा पूछे जाने पर उसने वे ही उत्तर दिये। तब यम ने उसे प्रणाम किया और कहा कि वर माँगो।

नचिकेता—मैं पिता के पास जीवित दशा में ही पहुँचूँ।

यम—ऐसा ही होगा। एक वर और माँग।

नचिकेता—मेरे इष्टापूर्त्त (यज्ञ आदि कार्य) अक्षय हों

यम—ऐसा ही होगा।

तदनन्तर यम ने नचिकेता को अग्नि-चयन की विधि बतलायी और कहा कि जो इस नाचिकेत-अग्नि का चयन करता है उसके इष्ट तथा पूर्त्त यज्ञ सफल होते हैं।

यम—तीसरा वर माँगो।

नचिकेता—मृत्यु से बचने का उपाय बतलाओ।

यम ने उसे नाचिकेत-अग्नि का उपदेश दिया। जो इस ज्ञान को प्राप्त करता है वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कथा उपर्युक्त रूप में है। इसी का विस्तार कठ शाखा में भी उपलब्ध होता है, जो कठोपनिषद् के नाम से विख्यात है।

उपर्युक्त तीनों ही कथाओं में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अतः यह कहा जाना अनुपयुक्त न होगा कि यह कथा एक काल्पनिक कथा है तथा कुछ विशिष्ट तत्त्वज्ञान की दृष्टि से रूपक अलङ्कार में लिखी गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा में अग्नि की उपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है किन्तु कठोपनिषद् में उसका संक्षिप्तरूप ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण की इस कथा में आकाशवाणी द्वारा जो उपदेश दिया गया है वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। महाभारत की कथा तो इन दोनों से भिन्न ही है। उसमें केवल नचिकेत की मूर्च्छित अवस्था का ही वर्णन है कि जिसमें नचिकेता को यम का साक्षात्कार तथा उपदेश दोनों ही प्राप्त हुआ है।

अतिथि-सत्कार--कठोपनिषद् में अतिथि-सत्कार का महत्त्व विशेषरूप

से प्रदर्शित किया गया है। वैसे यम को तो सब के प्राण हरण करने वाला एवं महान् शक्तिशाली देव माना जाता है। किन्तु अपने घर आकर एक अतिथि तीन दिन तक भूखा रहा, यह ज्ञात होने पर वह अत्यन्त घबराता है क्योंकि वह जानता है कि ऐसे गृहस्थी पुरुष की क्या दशा होती है कि जो अतिथि-सत्कार नहीं करता है। इस बारे में कठोपनिषद् की प्रथमवल्ली के आठवें श्लोक में स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। यम भी भयभीत है, वह जानता है कि मेरे घर पर अतिथि तीन दिन तक भूखा पड़ा रहा है अतः मुझे पाप लगेगा। वह अतिथि को सन्तुष्ट करने के निमित्त अपनी ही ओर से अनेक वर प्रदान करता है। गृहस्थी पुरुष द्वारा अतिथि का सत्कार अवश्य किया जाना चाहिए, यह उसका धर्म है इस सिद्धान्त का मण्डन यहाँ पर उपस्थित किया गया है। जहाँ अतिथि के समक्ष प्रत्यक्ष यम भी घबराता हो वहाँ अन्य गृहस्थियों का तो कहना ही क्या ? अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ६ में भी अतिथि-सत्कार का विषय आता है। इसमें इस कथा जैसा अतिथि-सत्कार सम्बन्धी कुछ अंश प्राप्त होता है :—

"इष्टं च वा एव पूर्तं च ॥ १ ॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।। ४ ।। अशितवत्यतिथावश्नीयात०" ।।८।। अथर्व० ९।६।।

"अर्थात् जो गृहस्थी पुरुष अतिथि से पूर्वभोजन करता है अथवा अतिथि को भूखा रखता है वह अपने इष्ट और पूर्त यज्ञ, प्रजा तथा पशु को ही खाता है। अतः अतिथि को पहिले ही खिलाना उचित है।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण के पदों तथा इन उपर्युक्त पदों में कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में तो यहाँ तक कहा गया है कि अतिथि-सत्कार में दिया गया केवल जल भी बड़े यज्ञ के फल के सदृश लाभकारी होता है। अथर्ववेदका उपर्युक्त सम्पूर्ण सूक्त ही अतिथि-सत्कार का परिचायक है। कठोपनिषद् की मुख्य कथा का प्रारम्भ भी अतिथि-सत्कार से ही हुआ है। अतः प्रत्येक गृहस्थी व्यक्ति का कर्तव्य है कि आये हुये अतिथि का सत्कार अवश्य करे। हाँ इतनी अवश्य ध्यान रखने योग्य बात है कि गृहस्थी पुरुष को आत्मरक्षा की दृष्टि से यह अवश्य जान लेना चाहिये कि आया हुआ अतिथि सज्जन है अथवा दुर्जन।

यम और मृत्यु—मृत्यु अथवा यम के समीप नचिकेता गया था, इस प्रकार का वर्णन प्रत्येक कथा में आया है। यम अथवा मृत्यु कोई पुरुष अथवा

राज्याधिकारी व्यक्तिविशेष नहीं है कि जिसका कोई अपना घर हो, कुटुम्ब अथवा परिवार हो तथा जिसके घर पर अतिथि आते-जाते रहते हों। वस्तुतः आयु की समाप्ति का ही नाम मृत्यु है। आयु की समाप्ति कोई मानव नहीं हो सकता है अथवा न कोई वह शरीरधारी देव ही हो सकता है। यम को 'वैवस्वत' भी कहा गया है अर्थात् उसे विवस्वान् (सूर्य) से उत्पन्न माना गया है। सूर्य से काल की उत्पत्ति अथवा काल का निर्माण अवश्य होता है अथवा हुआ है। यम अथवा मृत्यु को भी 'काल' कहा जाता है। यह काल भी कोई शरीरधारी व्यक्ति नहीं है कि जिसके घर अतिथि आदि का आना-जाना रहता हो। अतः वास्तविक मृत्युदेव वह नहीं है कि जिसके घर नचिकेता गया हो तथा जिसने नचिकेता को उपदेश दिया हो। ऐसी स्थिति में यह समझना अनुपयुक्त न होगा कि यह नचिकेता की कथा कोई इतिहास नहीं है अपितु रूपक-अलङ्कार द्वारा वर्णित एक कथा ही है।

वैसे तो भगवान् की तीन विशिष्ट शक्तियाँ मानी गई हैं—(१) सृष्टि-उत्पादिका अथवा रचनात्मिका शक्ति, (२) पालनकर्त्री शक्ति, (३) प्रलयंकरी अथवा संहारक-शक्ति। इनमें से तृतीय संहारक-शक्ति को ही मृत्यु कहा जा सकता है। आत्मतत्त्व की दृष्टि से परमात्मा निराकार और अव्यक्त तथा विश्वरूप की दृष्टि से विश्वरूप कहा गया है। उसको किसी भी प्रकार माना जाय किन्तु फिर भी उसके यहाँ अतिथि का जाना, उसके यहाँ पहुँचकर अतिथि का भूखा रहना, उसके कारण मृत्यु के अन्दर घबराहट आदि का होना ये बाते संभव प्रतीत नहीं होतीं।

कुछ लोगों का कथन है कि यम एक देवताविशेष है जो यमपुरी का राजा है तथा जो सूर्य का पुत्र है तथा इसका मन्त्री चित्रगुप्त है। यह विचार सर्वथा निर्मूल-सा ही प्रतीत होता है क्योंकि यदि यमपुरी का राजा होता और नचिकेता मरकर उसके समीप जाता तो फिर वह यह क्यों पूछता कि मुझको यह बतलाओ कि मरने के पश्चात् क्या होता है ? क्योंकि स्वयं मरा हुआ नचिकेता ही तो यम से वार्तालाप कर रहा है। ऐसी स्थिति में उसे मृत्यु-विषयक सन्देह ही क्या हो सकता था। अतः नचिकेता का यम के गृह जाना एक काल्पनिक प्रसंग है कि जिसका वर्णन रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुतः गुरुही मृत्यु है—वेदों में एक वर्णन इस प्रकार का और मिलता है जिससे यह विदित होता है कि गुरु ही मृत्यु है। जब अध्ययन की दृष्टि से बालक गुरुकुल में जाता है तब वह मृत्यु को सर्मपित होता है। उसको जन्म देने वाले माँ-बाप स उसका सम्बन्ध छूट जाता है और गुरु ही उसका पिता होता है तथा सावित्री अथवा विद्या ही उसकी माता होती है। उस बालक का यही दूसरा जन्म माना जाता है। इसी कारण जब वह बालक उस गुरुकुल से स्नातक होकर निकलता है तब उसको द्विजन्मा कहा जाता है। इस भाँति उसके दो जन्म होते हैं। प्रथम जन्म की मृत्यु होकर विद्या के द्वारा वह उस द्वितीय जन्म को प्राप्त करता है। इसीलिये कहा भी गया है :—

"आचार्यो मृत्युः ॥अथर्व० ११।५।१४॥

अन्य ग्रन्थों में भी "मृत्युराचार्यस्तव" ऐसा ब्रह्मचारी को सम्बोधित कर कहा गया है। जब विद्याध्ययन के निमित्त ब्रह्मचारी आचार्य के पास जाता है तब उसका प्रथम जन्म समाप्त होता है तथा दूसरा जन्म लेने हेतु वह सरस्वती अथवा विद्यामाता के गर्भ में प्रविष्ट होता है तथा अध्ययन की समाप्ति पर होने वाले समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर वह नया जन्म ग्रहण करता है। इस भाँति भी आचार्य को ही मृत्यु कहा गया है। अथर्ववेद में एक स्थान पर आया है :—

"मृत्योरहं ब्रह्मचारी"...........(अथर्व० ६।१३३।६)

अर्थात् मैं मृत्यु को प्राप्त हुआ ब्रह्मचारी हूँ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुरु अथवा आचार्य रूप मृत्यु को ही प्राप्त हुआ यह ब्रह्मचारो है।

तीन रात्रियों तक यम के घर पर भूखा रहने का भाव—वस्तुतः रात्रि का भाव अज्ञान से है। तीन प्रकार के अज्ञानों से मानव अभिभूत रहा करता है। वे अज्ञान हैं :—(१) आत्मिक, (२) दैविक और (३) भौतिक। अतः ये तीन प्रकार के अज्ञान ही तीन रात्रियाँ हैं। ब्रह्मचारी को ज्ञान की भूख रहा करती है। उसी के लिये वह भूखा रहा करता है। नचिकेता भी आचार्य यम के समीप ज्ञानोपार्जन हेतु ही गया है। वह ज्ञान का भूखा है।

उसने सर्वप्रथम भौतिक और तदनन्तर दैविक और तत्पश्चात् आत्मिक ज्ञान

को प्राप्त किया है। इस प्रकार उसका तीनों प्रकार का अज्ञान नष्ट हुआ है और उसने वास्तविक तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है कि जिस ज्ञान की प्राप्ति का वह अभिलाषी था। तीन रात्रियों तक भूखा रहने का भाव अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है :—

आचार्यं उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्रः उदरे विभर्ति तं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

अथर्व० ११।५।३॥

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन (यज्ञोपवीत) करता है। उस समय ब्रह्मचारी को विद्यामाता के गर्भ में रखता है। वह तीन रात्रियों तक उस ब्रह्मचारी को उदर में धारण करता है, वह बाहर प्रकट होता है। उस समय देवगण उसको देखने के निमित्त एकत्रित होते हैं।

इस मन्त्र में आचार्य के घर तीन रात्रियों तक रहने का उल्लेख किया गया है। आत्मिक, दैविक और भौतिक ये तीन प्रकार के अज्ञान ही तीन रात्रियाँ हैं। इन तीनों प्रकार के अज्ञानों का विनाश कर वह ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक रहा करता है। अतः वह ज्ञान का भूखा होता है। यहाँ पर इसी कारण कहा गया है की वह तीन रात्रियों तक भूखा रहा करता है। इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नचिकेता एक सुयोग्य गुरु अथवा आचार्य के समीप गया और वहाँ उसने ज्ञान को प्राप्त किया।

इस भाँति इस उपनिषद् की कथा का सूक्ष्म विश्लेषण करने के अनन्त हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नचिकेता और यम का उपर्युक्त सं चाहे काल्पनिक हो अथवा वास्तविक हो किन्तु यह तो कहना नितान्त स ही है कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस उपनिषद् में किया गया है वे नितान्त सत्य तथा प्रामाणिक और वेदानुकूल हैं। अतएव पूर्णतया मान्य हैं।

नचिकेता द्वारा याचित तीन वर तथा उनका सूक्ष्म-विश्लेषण

नचिकेता ने जिन तीन वरों की याचना यम से की है उन तीनों का सम्बन्ध क्रमशः इस लोक, परलोक और आनन्दलोक अथवा विष्णु के परमधाम से है। उसके प्रथम वर का सम्बन्ध इस लोक से है। वह इस लोक में मृत्यु

को प्राप्त कर यम के समीप पहुँच चुका है। अन्तिम समय में उसकी इस लोक से सम्बन्धित केवल एक ही इच्छा अवशिष्ट रह गई थी और वह थी कि उसके बार-बार प्रश्न करने से उसके पिता उससे असन्तुष्ट हो गये थे तथा उनमें क्रोध का विकार भी उत्पन्न हो गया था और बाद में उनको मेरे यहाँ चले आने से शोक भी था। पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता को अपने आचरण एवं व्यवहार द्वारा प्रसन्न तथा शान्त-मन रखे। १।१।१०-११ में इसी पुत्र के कर्तव्य का निम्न प्रकार से वर्णन प्रस्तुत किया गया है :—

पुत्र पिता को (शान्तसंकल्पः) शान्त और प्रसन्नचित्त रखे, (सुमनाः) उत्तम मन से आनन्दयुक्त रखने का सदैव प्रयास करता रहे। (वीतमन्युः) उसका क्रोध दूर करे और (प्रतीतः) उत्तम व्यवहार करने की अनुकूलता उसके लिये बनाये रखे। वह (सुखं रात्रीः शयिता) ऐसी व्यवस्था करे कि जिससे रात्रि के समय पिता को उत्तम निद्रा आये।

जिस घर में ऐसे पुत्र हों वही आदर्श गृहस्थ-गृह कहा जा सकता है। पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा से गृहस्थाश्रम सदैव सुखपूर्ण होता है।

इस लोक से सम्बन्धित नचिकेता की यही इच्छा थी कि उसके पिता उससे प्रसन्न रहें तथा उनका क्रोध नष्ट हो जाये [कि जिसके विकार के कारण मनुष्य कार्य का अकार्य कर बैठता है। संभव था कि उसका पिता भी कोई ऐसा अकार्य कर बैठे कि जिससे उसका भविष्य ही बिगड़ जाय, अतः नचिकेता को अपने पिता के सम्बन्ध में इस प्रकार की चिन्ता थी।] और वे शान्तमन होकर अपने यज्ञ को पूर्ण करें तथा उनका भविष्य सुन्दर हो। अतः उसका प्रथम वर पितृ-परितोष सम्बन्धी था। आचार्य यम ने इस वर को उसे ज्यों का त्यों प्रदान किया।

द्वितीय वर परलोक-विषयक है। इस वर में नचिकेता ने आचार्य यम से स्वर्ग की साधनभूत उस अग्नि के बारे में जानना चाहा है कि जिसको जानकर मनुष्य स्वर्गलोक की प्राप्ति कर लेता है, जहाँ पहुँचकर वह सांसारिक दुःखों और कष्टों से पृथक् होकर शान्ति, प्रसन्नता एवं आनन्द की अनुभूति किया

करता है।

वस्तुतः मनुष्य को शास्त्रों का अध्ययन कर अपनी ज्ञानाग्नि को उद्दीप्त करना चाहिये। माता, पिता एवं आचार्य इन तीनों के द्वारा मानव-ज्ञान को प्राप्त किया करता है तथा संस्कार-सम्पन्न बनता है। इस प्रकार ज्ञानार्जन कर तथा संस्कार-सम्पन्न बनकर यज्ञ, अध्ययन और तप अथवा दान कर्मों का आचरण करता हुआ सब प्रकार के सांसारिक कष्टों और दुःखों से मानव अपने को पृथक् कर लिया करता है और फिर इस भाँति शोकरहित होकर प्रसन्नता का अनुभव किया करता है। (कठो० १।१।१७-१९ ।।)

अतः स्वर्गलोक की साधनभूत इस ज्ञानाग्नि को भलीभाँति प्रज्वलित रखना ही परलोक की प्राप्ति के निमित्त महान् साधन है।

तृतीय वर आनन्द-लोक की प्राप्ति विषयक है। इस लोक की प्राप्ति का प्र धान-साधन आत्मज्ञान है। अतः नचिकेता का यह तृतीय वर माँगना आत्मतत्त्व विषयक है।

ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाले हैं—भोग। जो भोगों में फँसता है वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। मनुष्य के समक्ष दो प्रकार के पदार्थ आकर उपस्थित हुआ करते हैं (१) वास्तविक और सच्चा कल्याण करने वाले पदार्थ और (२) क्षणिक सुख प्रदान करने वाले पदार्थ। इनमेंसे सच्चा कल्याण प्राप्त कराने वाले पदार्थों अथवा ज्ञान-मार्ग का आश्रय प्राप्त करने वाले व्यक्ति का सदैव कल्याण ही होता है। किन्तु जो क्षणिक सुख प्रदान करने वाले सांसारिक पदार्थों अथवा भोग-मार्ग का अवलम्बन लेकर जीवन को यापन किया करता है वह संसार के आवागमन के (जन्म और मृत्यु के) बन्धन में सदैव बँधा रहा करता है। इन्हीं दो प्रकार के मार्गों (साधनों-ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग अथवा श्रेयमार्ग और प्रेय मार्ग) का वर्णन कठोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्रों में किया गया है :—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हियतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

कठो० १।२।१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

कठो० १।२।२॥

प्राय: लोगों की प्रवृत्ति भोगों को प्राप्त करने की हीं ओर रहा करती है। विरला ही कोई व्यक्ति होता है कि जो ज्ञानमार्ग का पथिक बनकर उस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति का इच्छुक हुआ करता है। अनेक व्यक्ति आत्म-ज्ञान विषयक उपदेशों का श्रवण मात्र ही करते हैं अत: वे वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर पाते। इस ज्ञान का योग्य उपदेष्टा तथा श्रोता कठिनता से ही प्राप्त होता है अर्थात् कोई विरला ही हुआ करता है। योग्य गुरु के पास से ही उस आत्मतत्त्व विषयक-ज्ञान को योग्य रीति से प्राप्त करना चाहिये। मानव का वास्तविक कल्याण इसी में है :—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति, अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वाहङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥

कठो० १।२।७–६॥

बुद्धिरूपी गुहा में स्थित उस आत्मा को अध्यात्म-योग के द्वारा जानकर मनुष्य हर्ष-शोक आदि से रहित होकर उस महान् आनन्द का अनुभव किया करता है कि जिसके लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील था :—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

कठो० १।२।१२॥

जिसका वेदों द्वारा वर्णन किया गया है, जिसकी प्राप्ति के लिये व्रत एवं तपादि नाना प्रकार के साधन किये जाते हैं ऐसा वह परम आत्मतत्त्व 'ओऽम्' ही है :—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

कठो० १।२।१५॥

यह परम आत्मतत्त्व सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। यह बाहर और अन्दर सर्वत्र विद्यमान है। निष्काम कर्मयोगी व्यक्ति इस आत्मा की

वास्तविक महिमा का अनुभव किया करता है। यही अनेक शरीरों में एक, महान् तथा विभु है। इसको जान लेने से मानव शोक-रहित हो जाता है।

विद्वान् पुरुषों ने उस जीवात्मा और परमात्मा को छाया और धूप के सदृश कहा है :—"छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति" ।। कठो० १।३।१।। इनमें से परमात्मा स्वयं ही आनन्द स्वरूप है और जीवात्मा उसके आनन्द की प्राप्ति का साधक है। जीवात्मा जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त करने पर उस आनन्द की अनुभूति करने लगता है और जब इस अनित्य शरीर से उसका पूर्णतया छुटकारा हो जाता है तब वह परममुक्त होकर उस परमानन्द का पूर्णरूप से अनुभव करता हुआ आनन्द-लोक में विचरण किया करता है।

साधक को उचित है कि वह अपने आपको रथ में बैठने वाला रथ का स्वामी तथा अपने शरीर को रथ समझे, इस शरीर-रूपी रथ को चलाने वाला सारथि बुद्धि को तथा मन को लगाम समझे। इस शरीर-रथ में जुते हुए घोड़े इन्द्रियाँ हैं जिनके मार्ग प्रत्येक इन्द्रिय से सम्बन्धित सांसारिक विषय हैं। इन्द्रिय और मन से संयुक्त आत्मा ही भोक्ता कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिस भाँति शिक्षित घोड़ों से जुता हुआ रथ योग्य सारथि द्वारा उत्तम और ठीक लगाम द्वारा ठीक मार्ग पर ले जाया जाते हुए अपने उद्दिष्ट स्थान पर सरलतापूर्वक पहुँच जाया करता है, उसी प्रकार यदि साधक व्यक्ति ने अपने ज्ञान-विज्ञान द्वारा अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर रखा है और उसकी बुद्धि भी उसको अपने उद्दिष्ट स्थान की ओर ले जाने में समर्थ है तो ऐसा स्वस्थ शरीर से युक्त आत्मा आत्मज्ञान के द्वारा उस परम आत्मतत्त्व की उपलब्धि कर लिया करता है अर्थात् वह जन्म एवं मृत्यु के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर अमर होकर मोक्ष के आनन्द की अनुभूति किया करता है। देखो—'रथ के रूपक' से सम्बन्धित कठोपनिषद् में प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली के संख्या ४ से लेकर १२ तक के मन्त्र।

परमात्मा ने मनुष्य की इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इसी कारण मानव बाह्य-विषयों को तो देखता है किन्तु अपनी अन्तरात्मा को इन इन्द्रियों के द्वारा देखने में असमर्थ रहा करता है। कोई विरला बुद्धिमान् पुरुष ही अमृतत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ उस अन्तरात्मा का दर्शन कर

पाता है। मूर्ख पुरुष सांसारिक विषय-भोगों में लिप्त रहा करते हैं और परिणामस्वरूप वे मृत्यु के जाल में फँसे रहा करते हैं। केवल बुद्धिमान् पुरुष ही अमृतरूप आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर इन अस्थायी विषयों की ओर नहीं झुकता है। कठो० २।१।१–३ ॥

अजन्मा आत्मा का यह शरीररूपी नगर है। इस शरीररूपी नगर के ग्यारह द्वार हैं। अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति यहाँ दुःख अथवा शोक का अनुभव नहीं किया करता है; अपितु इसके विपरीत वह दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। कठो० २।२।१ ॥

शरीर के नष्ट हो जाने (मर जाने) पर जो अवशिष्ट रह जाता है वही यह आत्मा है। प्राणादिकों के द्वारा कोई भी प्राणी जीवित नहीं रहा करता है। इससे भिन्न जो तत्त्व है उसी के द्वारा व्यक्ति जीवित रहा करता है। मरने के पश्चात् इस तत्त्व का क्या होता है? यह जो प्रश्न नचिकेता ने किया था, उसका उत्तर यह है कि जैसा जिसका ज्ञान एवं कर्म हुआ करता है, उसी के अनुसार वह फल की प्राप्ति भी किया करता है। कुछ जीव उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं और कुछ स्थावर भी होते हैं–कठो० २।२।४–७॥ फल की प्राप्ति का नियामक एवं न्याय के अनुसार फल का निर्णायक परब्रह्म परमात्मा है कि जो सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् आदि अनन्त गुणों से युक्त है। अतएव साधक के लिये यह आवश्तक है कि वह शरीर का नाश होने से पूर्व ही इस आत्मा एवं परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर मनन एवं ध्यान के द्वारा उस महान् एवं विभु भगवान् को प्राप्त कर ले। इसी से साधक को लाभ होगा। जैसा बिम्ब का प्रतिबिम्ब शीशे में दिखलाई पड़ा करता है अथवा जैसा जल में प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ा करता है और जैसे छाया और आतप दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही ये जीवात्मा और परमात्मा भी हैं। कठो० ३।३।४–५ ॥

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्तब्ध हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा-विहीन हो जाती है तब इस अवस्था को "परमगति" कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसी को योग भी कहा जा सकता है।

जब साधक पुरुष की भोग-सम्बन्धी सभी वासनायें दूर हो जाती हैं तब वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था में उसे [illegible] की [illegible] हो

जाती है। हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और तब मानव अमर हो जाता है। कठो० २।३।१४–१५ ।।

हृदय से १०१ नाड़ियाँ निकली हैं, इनमें से एक नाड़ी सिर की ओर जाती है। इस नाड़ी के द्वारा जिस व्यक्ति का प्राण निकलकर अन्त हुआ करता है वह व्यक्ति अमरत्व अथवा मोक्ष अथवा मुक्ति अथवा विष्णु के परमधाम अथवा उस ब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति कर लिया करता है। अन्य नाड़ियों से गमन करने वाला व्यक्ति अन्य प्रकार की गतियों को प्राप्त किया करता है। कठो० २।३।१६ ॥

कठोपनिषद् का सार

वस्तुतः सांसारिक भोग एवं वासनाओं के द्वारा प्राप्त सुख क्षणिक (अस्थायी) है तथा परलोक अथवा आनन्द लोक में प्राप्त होने वाला आनन्द स्थायी तथा अमरत्व का प्रदाता है। इसी कारण सांसारिक भोग-वासनाओं में पड़े रहने वाले व्यक्ति को बार-बार यमराज के समीप पहुँचना पड़ता है अर्थात् वह निरन्तर जन्म और मृत्यु के बन्धन में बँधा रहा करता है और क्षणिक सांसारिक सुखों का अनुभव करते हुए त्रिविध कष्टों का भी भोक्ता बना रहा करता है :—

"न साम्परायः प्रतिभासि बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।"

किन्तु जो श्रेयमार्ग का पथिक है वह सांसारिक भोगवासनाओं से प्राप्त सुख को क्षणिक एवं अस्थायी समझता हुआ उसका त्याग कर देता है तथा अपनी मानसिक चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर भगवद्-प्राप्ति के निमित्त अपने मन को उसके ध्यान में संलग्न कर देता है और इस भाँति वह भगवान् के नित्य आनन्द की उपलब्धि कर चिरन्तन सुख का अनुभव करते हुए उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति कर लिया करता है कि जो वस्तुतः मानव जीवन का लक्ष्य है।

नचिकेता का चरित्र-चित्रण

नचिकेता का चरित्र मानव मात्र के लिये एक आदर्शचरित्र है। उसके चरित्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उसने अपने पिता को वास्तविक और

उनके उद्दिष्टमार्ग की ओर प्रेरित होने के निमित्त प्रेरणा प्रदान की है। उसके पिता उद्दालक विश्वजित् यज्ञ कर रहे थे। इस यज्ञ में यज्ञकर्ता को सब कुछ दान कर देना पड़ता है। उस युग में गायें ही सर्वोत्तम धन के रूप में समझी जाती थीं। उद्दालक ऋषि के समीप अनेक गायें थीं। उनमें से सभी दान देने योग्य उत्तम गायों का दान उन्हें कर देना था, किन्तु उन्होंने उनमें से कुछ उत्तम गायों को अपने पुत्र नचिकेता के निमित्त सुरक्षित रखा था। उनके समीप कुछ ऐसी भी गायें थीं जो सर्वथा अदेय, वृद्धा तथा मरणासन्न अवस्था में थीं। नचिकेता के निमित सुरक्षित गायों तथा वृद्धा गायों को छोड़कर ऋषि ने सम्पूर्ण गायों को दान कर दिया था, किन्तु उसके पश्चात् भी जब दान देने की और आवश्यकता पड़ी तो उस समय उद्दालक (वाजश्रवस्) ने अदेय एवं वृद्धा गायों का भी दान करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दान में दी जानेवाली वस्तु उत्तम तथा उपयोगी ही होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्वदान कर देने का विधान है। सर्वस्वदान का यही अभिप्राय है कि अपनी कहलाने वाली कोई वस्तु अवशिष्ट ही न रहे। नचिकेता ने जब यह देखा कि उसके पिता वृद्धा एवं मरणासन्न गायों का भी दान कर रहे हैं तो उसने सोचा कि यह तो इनके द्वारा बड़ा ही अनर्थ किया जा रहा है। उसे महान् आत्मिक क्लेश हुआ। उसने पुनः विचार किया कि इस प्रकार अदेय वस्तु का दान करने से यज्ञ की पूर्ण सफलता न होगी तथा मेरे पिता द्वारा किया गया यह विश्वजित् याग भी निष्फल हो जायेगा। ऐसी स्थिति में वह इस निर्णय पर पहुँचा कि मेरे लोभावेश में उन्होंने कुछ उत्तम गायों को रोक रखा है, मेरे ही कारण वे उनका दान नहीं कर रहे हैं, इस भाँति मेरे कारण ही उनके द्वारा उपर्युक्त अनर्थ किया जा रहा है। उसने यह भी सोचा कि सर्वस्वदान की दृष्टि से उन्हें अपने सत्पुत्र का भी दान करना आवश्यक है, जिससे कि अपनी कही जाने वाली कोई भी वस्तु अवशिष्ट न रह जाय। यदि उन्होंने मुझे दान में दे दिया तो फिर दोनों ही बातें पूर्ण हो जावेंगी। प्रथम तो यह कि मेरे लोभ के कारण रोकी गई उत्तम गायों का भी दान वे कर देंगे तथा उनकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का भी याग की दृष्टि से दान हो जायेगा। इस भाँति मेरे पिता का यज्ञ पूर्णरूपेण सफलता को प्राप्त हो सकेगा। यह है नचिकेता का महान् स्वार्थत्याग

एवं अपने पिता को कर्तव्यपरायणता की ओर उन्मुख कर देने का निश्चय। वह सांसारिक पदार्थों के लोभावेश में फँसकर अपने मानव-जीवन के लक्ष्य की पूर्ति से अपने को वंचित नहीं रखना चाहता था। उसको गायें आदि किसी भी सांसारिक पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा न थी। उसके जीवन का अन्तिम उद्देश्य था—"आवागमन के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेना"।

आज के युग में तो पुत्रों की अभिलाषा प्रायः यही रहा करती है कि पिता की मृत्यु शीघ्र ही हो जावे और मुझे अधिकार प्राप्त हो। वैदिक युग में इस प्रकार के पुत्र न थे। वे बड़े ही आज्ञाकारी एवं पुत्र शब्द की सत्यता को सिद्ध करने वाले वास्तविक सत्पुत्र ही थे। पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति है :—'पुं नरकाद् त्रायते इति पुत्रः" अर्थात् जो नरक-गमन से अपने पिता की रक्षा करता है, वही पुत्र है। नचिकेता अपने पिता का ऐसा ही पुत्र था। उसने अपने पिता को अनर्थ करने से रोका, जिस अनर्थ के कारण उनका यज्ञ संभवतः सफल न होता। परन्तु किसी आज्ञा, आदेश अथवा परामर्श द्वारा नहीं, केवल प्रार्थना द्वारा। यद्यपि मनुस्मृति का कथन है कि—"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्र-वदाचरेत्" अर्थात् पुत्र के १६ वर्ष की आयु के प्राप्त हो जाने पर उसके साथ पिता मित्रवत् आचरण करे, किन्तु नचिकेता इस सिद्धान्त का भी पक्ष-पाती न था। इसी कारण उसने पिता को कोई सुझाव अथवा परामर्श न देकर उनसे केवल प्रार्थना ही की कि हे पिता जी, बतलाइये कि आप मुझे किसको दे रहे हैं ? ("तत् कस्मै मां दास्यसि ? इति")। इससे अपने पिता के प्रति पुत्र नचिकेता की सच्ची आस्था तथा उसका वास्तविक एवं सत्य पितृ-प्रेम स्पष्टरूप से परिलक्षित हो जाता है कि जिसमें स्वार्थ-भावना के लिए कोई भी स्थान नहीं है। यह है नचिकेता का अपने पिता को निस्वार्थभाव के साथ वास्तविक कर्तव्य की ओर उन्मुख कर देने का एक उचित प्रकार; जिससे नचिकेता के त्याग एवं आदर्शपूर्ण प्रारम्भिक-जीवन का स्पष्टरूप से भान होता है।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि नचिकेता अपने पिता उद्दालक के समीप जाता है और उनसे पूछता है कि पिता जी ! आप मुझको किसके लिये दान में

दे रहे हैं ? एक बार, दो बार कहने पर भी जब पिता ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया तो नचिकेता ने तीसरी बार पुनः कहा—"आप मुझे किसके लिये दान में देंगे ।" इस बार पिता को कुछ क्रोध आ गया और क्रोधावेश में उन्होंने नचिकेता से कहा "मृत्यवे त्वा ददामि" अर्थात् मैं तुझे मृत्यु (यम) के लिये देता हूँ ।

परन्तु इस प्रकार की बात श्रवण करने पर भी नचिकेता के मन में अपने पिता के प्रति किसी भी प्रकार का दुर्भाव जाग्रत नहीं हुआ । न वह यही सोचता है कि पिता ने ऐसा क्यों कहा ? बह तो महान् कर्तव्यनिष्ठ पुत्र है । यमाचार्य के यहाँ जाने को उद्यत हो जाता है। जिस प्रकार राम ने प्रातःकाल होने पर अपने पिता की मूर्च्छावस्था आदि का कारण केकयी से पूछा और उनसे यह ज्ञात होने पर कि "उन्हें चौदह वर्ष के लिए वन जाना है" वे वन जाने के लिए उद्यत हो गये । उन्होंने सोचा भी नहीं कि ऐसा क्यों हुआ है ? इत्यादि इत्यादि । वे अपने पिता के महान् आज्ञाकारी पुत्र थे, उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था । इसी भाँति नचिकेता ने पिता के यह कह देने पर कि "मृत्यवे त्वा ददामि" कोई किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं की और वह यमाचार्य के यहाँ जाने को तैयार हो गया तथा प्रसन्नता पूर्वक चला भी गया ।

नचिकेता का यमलोक-गमन उसके पिता के लिए तो कल्याणकर हुआ ही, साथ ही विश्व के लिए भी अत्यन्त कल्याणकर सिद्ध हुआ । उसके पिता द्वारा किया जा रहा विश्वजित् नामक यज्ञ पूर्ण हुआ । इसके अतिरिक्त नचिकेता ने यमाचार्य के यहाँ पहुँचने के पश्चात् जिन वरों की याचना उनसे की और उनसे जिस महान् ज्ञान की प्राप्ति उसे हुई, उससे उसके जीवन का तो कल्याण हुआ ही, साथ ही वह ऐसा अमर ज्ञान हो गया कि जिससे समस्त विश्व बराबर लाभ उठाता रहा तथा आज भी उठा रहा है ।

यह है नचिकेता के जीवन की दूसरी विशेषता जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने पिता का महान् आज्ञाकारी सत्पुत्र था । उसके मन में पिता द्वारा उपर्युक्त आज्ञा दिये जाने पर भी कोई किसी भी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं हुई और उन्होंने तत्क्षण ही उसका पालन किया ।

जब नचिकेता यमाचार्य के यहाँ पहुँचा तो यमाचार्य वहाँ उपस्थित न थे। वे तीन दिनों के पश्चात् बाहर से लौटे। यम की पत्नी द्वारा भोजनादि के उचित आतिथ्य के स्वीकार करने हेतु प्रार्थना भी की गयी, किन्तु नचिकेता ने भोजन अथवा अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया, क्योंकि इसका मुख्य कारण यह था जिसे वह भली भाँति समझता था, कि दान की गयी हुई वस्तु दान किये गये व्यक्ति के समीप ज्यों के त्यों रूप में ही पहुँचनी चाहिए। उसमें किसी प्रकार की भिन्नता उत्पन्न न हो। अतः वह जिस रूप में पिता के समीप था, उसी रूप में यमाचार्य के समक्ष पहुँच जाना चाहता था। इस कारण उसने अन्नजलादि ग्रहण नहीं किया था। संभव था कि वह यदि अन्न-जलादि ग्रहण करता तो उसके मन आदि में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता और वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णता उपलब्ध न कर सका होता, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि—"जैसा खाये अन्न वैसा बने मन"। अतः उसने वहाँ अन्न-जल ग्रहण न करना ही उचित समझा। यह है उसकी सत्य के प्रति निष्ठा एवं उसका सत्य आचरण जिसका ज्वलन्त उदाहरण उपर्युक्त है। तप एवं त्याग तथा सत्य का आचरण करने से ही मानसिक शान्ति की उपलब्धि होती है। उसने भोजनादि ग्रहण नहीं किया, यह है सांसारिक भोगों के प्रति त्याग की भावना अथवा उदासीनता। तीन दिन तक शरीर को कष्ट दिया, यही तप है। पिता द्वारा दान में दिया गया हुआ वह ठीक उसी अवस्था में यमराज के समीप पहुंचा, यह है सत्य आचरण। अतः यह है नचिकेता के चरित्र की तीसरी महान् विशेषता।

यमाचार्य को घर वापिस लौटने पर जब यह ज्ञात हुआ कि उसके घर पर तीन दिन से अन्न-जलादि न ग्रहण करता हुआ भूखा ब्राह्मण-अतिथि ठहरा हुआ है तो उसे बड़ा ही मानसिक क्लेश हुआ, उसने सोचा कि—

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥

कठो० १।१।८॥

अर्थात् जिसके घर पर ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजनादि किये निवास करता

है, उस मन्दबुद्धि पुरुष की ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाएँ, उनके संयोग से प्राप्त होने वाले फल, प्रियवाणी से प्राप्त होने वाले फल, यज्ञादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त्तकर्मों के फल तथा पुत्र, पशु आदि को वह नष्ट कर देता है।

अतः यमाचार्य उचित एवं आवश्यक सत्कार की वस्तुओं के साथ नचिकेता के समीप गये तथा उनका समुचित आतिथ्य करने के पश्चात् निवेदन किया कि हे ब्रह्मन् ! आपने हमारे घर पर बिना अन्न-जल ग्रहण किये तीन दिन तक निवास किया है, अतः आप इस उपलक्ष्य में मुझ से अपने यथेच्छ तीन वरों को माँग लीजिये :—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु, तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ।।
कठो० १।१।९।।

चलते समय नचिकेता को चिन्ता थी कि उसके पिता में कुछ क्रोध, क्रोधावेश में अपने पुत्र के प्रति "मृत्यवे त्वा ददामि" कह जाने का शोक एवं उसके यमाचार्य के यहाँ चले आने के कारण उत्पन्न हुई मानसिक अशान्ति अथवा खिन्नता थी, जिसके कारण नचिकेता को भय था कि कहीं वे कार्य का अकार्य न कर डालें और इस भाँति उनका विश्वजित् यज्ञ सफल न हो। इस प्रकार की चिन्ता में तथा इस नियम के अनुसार कि "यदि हमारे कारण किसी व्यक्ति को खेद हो तो जब तक हम उसका खेद निवृत्त न कर देंगे, हमें भी शान्ति नहीं मिल सकती" नचिकेता का मन खिन्न था। इस कारण सर्वप्रथम उसने अपने पिता के पूर्ण शान्त एवं शोकादि से रहित हो जाने का प्रथम वर यमाचार्य से मांगा—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।। कठो० १।१।१०

वैसे तो आधुनिक युग में पुत्र पहले अपने स्वार्थों की सिद्धि किया करते हैं, परन्तु नचिकेता की भावना निःस्वार्थ थी। उसके समक्ष यदि कोई लौकिक विषय या चिन्ता थी तो वह अपने पिता के सम्बन्ध में ही थी। उसने सोचा

कि यदि उसके पिता का क्रोध शान्त हो गया तो उनके सम्पूर्ण कार्य ठीक होंगे

और इस प्रकार उनको अपने पुत्र के वियोग का शोक भी दु:ख न देगा । अत: हम देखते हैं कि उसका प्रथम वर पूर्ण नि:स्वार्थ भावना एवं लौकिक शान्ति की भावनाओं से समन्वित था । इसके अतिरिक्त अब उसके हृदय में कोई भी सांसारिक विषय अवशिष्ट नहीं रह गया था कि जिसकी वह चिन्ता करता । इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका लौकिक जीवन पूर्णरूप से नि:स्वार्थ-भावना-समन्वित एवं शान्त था । यह भी नचिकेता के जीवन की एक अद्वितीय विशेषता ही कही जा सकती है ।

मनुष्य के मन में प्रधानरूप से दो प्रकार की चिन्ताएँ अथवा अशान्तियाँ निवास किया करती हैं (१) लौकिक (अर्थात् इस लोक-सम्बन्धी) (२) पारलौकिक (परलोक-सम्बधी) । उपर्युक्त प्रथम वर सम्बन्धी विशेषता के वर्णन द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अब उसकी कोई भी लौकिक चिन्ता, अथवा अभिलाषा अवशिष्ट नहीं रह गई थी । यह एक सैद्धान्तिक विचार है कि जब मनुष्य की लौकिक इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और इस भांति जब वह पूर्ण लौकिक शान्ति प्राप्त कर लिया करता है, तब उसे पारलौकिक शान्ति की इच्छा हुआ करती है । मानव के मन में उत्पन्न होने वाली यह एक अत्यन्त स्वाभाविक धारणा है । नचिकेता का सांसारिक सुख से पूर्णतया विच्छेद हो चुका है और अब उसके मानस में पारलौकिक सुखों की अनुभूतियों की प्रबल इच्छा है। अत: वह परलोक (स्वर्गलोक) की साधनभूत अग्नि— ("स्वर्गकामो यजेत" के आधार पर) के बारे में जानने की इच्छा करता हुआ दूसरे वर में यमाचार्य से उसी अग्नि का यथावत् उपदेश सुनना चाहता है :—

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतत् द्वितीयेन वृणे वरेण ।।कठो० १।१।१३।।

आचार्य यम उसे स्वर्गलोक-प्राप्ति की साधनभूत यज्ञाग्नि का उपदेश देते हैं । उससे नचिकेता को पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है । इसके अनन्तर यमाचार्य सोचते हैं कि मैंने इसे उपदेश तो दे दिया, किन्तु इसकी बुद्धि एवं सच्ची लगन की परीक्षा तो की नहीं । अत: वह नचिकेता से कहता है कि अब तुम उस यज्ञाग्नि का पूरा वर्णन मुझे सुनाओ (कठो० १।१।१४)। नचिकेता ज्यों का

त्यों वर्णन यमाचार्य के समक्ष कर देता है (कठो० १।१।१५)। यह सुनकर यमाचार्य नचिकेता से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और अपनी ओर से एक वरदान स्वयं ही उसे दे देते हैं :—

"तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः"

अर्थात् यह यज्ञाग्नि संसार में तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध हो।

इस भाँति नचिकेता की परलोक-प्राप्ति-सम्बन्धी उत्कट अभिलाषा का ज्ञान पाठक को प्राप्त होता है। वह अपने आपको संसार के आवागमन के बन्धन से भी मुक्त करना चाहता है, जो कि मानव-जीवन का एक प्रधानतम लक्ष्य है। इसी बीच वह अपनी बुद्धि एवं आचरण द्वारा यमाचार्य को पूर्ण प्रसन्न कर लेता है।

जीवात्मा जब ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार की अभिलाषाओं से अपने आपको शान्त कर लेता है, तब अन्त में उसकी उत्कट इच्छा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की होती है। नचिकेता के साथ भी यही बात है। उसकी दोनों ही प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। अतः अब उसको आत्म-दर्शन की पिपासा है, जिसे वह शान्त करना चाहता है। एतदर्थ वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए यमाचार्य से तृतीय वर की याचना करता हुआ कहता है :—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ कठो० १।१।२०॥

अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में इस प्रकार का सन्देह है कि कोई ऐसा कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के अतिरिक्त देहान्तर से सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा शेष रहता है और कुछ लोगों का कथन है कि ऐसा कोई आत्मा अवशिष्ट नहीं रहता। अतः इस विषय में हमको प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता तथा परम-पुरुषार्थ (मोक्ष) इसी विज्ञान के अधीन है। ऐसी स्थिति में मेरी इच्छा है कि आपसे शिक्षित होकर मैं इसे भली-भाँति जान सकूँ। यही मेरे वरों में से तृतीय वर है।

इस तृतीय वर में आत्मतत्त्व विषयक नचिकेता के प्रश्न को सुन कर यमाचार्य ने कहा कि—पहले देवताओं ने भी इस विषय में सन्देह किया था।

यह सरलतापूर्वक जानने योग्य विषय नहीं है। अतः तुम इस तृतीय वर के उपलक्ष्य में कुछ और माँग लो।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेता वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ कठो० १।१।२१॥

इस प्रकार कहते हुए यमाचार्य ने अनेकों प्रकार से सांसारिक वस्तुओं आदि के प्रलोभनों द्वारा नचिकेता को सन्तुष्ट करना चाहा और साथ ही यह भी देखना चाहा कि वस्तुतः नचिकेता आत्म-ज्ञान का अधिकारी है या नहीं ? वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में ही यह बतलाया गया है कि इस आत्मज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है ? इसी आधार पर नचिकेता की पूर्णरूप से परीक्षा ली गयी तथा वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और उसने कहा—

"वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥"

कठो० १।१।२७ का अन्तिम चरण।

क्यों कि इस वर के सदृश अन्य कोई दूसरा वर है ही नहीं :—

'नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।"

कठो० १।१।२२ का अन्तिम चरण।

अन्त में जब यमाचार्य ने देखा कि नचिकेता लौकिक एवं पारलौकिक भोगों से सर्वथा उदासीन है, उसमें पूर्ण विवेक विद्यमान है, वह शम-दमादि साधनों से सर्वथा सम्पन्न है तथा उसमें तीव्र मुमुक्षा की प्रच्छन्न अग्नि तीव्रता के साथ धधक रही है तो उन्होंने नचिकेता को आत्मज्ञान का अधिकारी स्वीकार कर लिया और कहा :—

"स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥
कठो० १।२।३ ॥

अतएव—

"विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥
कठो० १।२।४ ॥

और तत्पश्चात् उसे आत्मतत्त्व-सम्बन्धी पूर्णज्ञान प्रदान किया। यमाचार्य ने तो यहां तक कहा है कि हे नचिकेता, तुम्हारे ही जैसे सत्यनिष्ठा-सम्पन्न शिष्य मुझे भविष्य में भी प्राप्त हों (त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।)

मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्म-दर्शन ही है। भगवान् का साक्षात्कार हो जाना ही आत्म-दर्शन है। इस साक्षात्कार के लिए साधनभूत आत्मज्ञान का ज्ञान नचिकेता को प्राप्त हो गया और उसने पूर्ण सन्तोष प्राप्त किया। यह ज्ञानवर्षा ही सम्पूर्ण लोकों का कल्याण करने के लिए आज भी कठोपनिषद् के रूप में विद्यमान है। अपनी उपर्युक्त चारित्रिक विशेषताओं के कारण नचिकेता भी कठोपनिषद् की कथा के साथ संसार में अमर हो गया।

इस उपनिषद् का भाष्य करने तथा भूमिका लिखने में मुझे अपने से पूर्व के भाष्यकारों से कुछ न कुछ सहायता अवश्य लेनी पड़ी है, एतदर्थ हम उन सभी के आभारी हैं। साथ ही हम यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं समझते हैं कि हमारे इस भाष्य के साथ पाठकों को जो शाङ्करभाष्य भी छपा हुआ देखने को मिलता है, उसका एकमात्र श्रेय हमारे प्रकाशक महोदय को ही है। उनकी इच्छा थी कि भाषा-भाष्य के साथ कोई एक संस्कृत का भाष्य भी दिया जावे। अतः उन्होंने अपनी इच्छा से ही शाङ्कर-भाष्य को स्थान प्रदान किया है। मेरे भाषा-भाष्य का आधार शाङ्करभाष्य ही रहा हो, ऐसा नहीं है।

सुरेन्द्र देव शास्त्री

विषय-सूची

—:०:—

॥ श्रीः ॥

कठोपनिषद्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

[शाङ्करभाष्यसहिता च]

—: ❀ :—

प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली

मङ्गलाचरणम्

ओ३म् सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इस उपनिषद् में आचार्य यम द्वारा शिष्य नचिकेता को ब्रह्मविद्या का पुनीत उपदेश दिया गया है। अतः प्रारम्भ में आचार्य एवं शिष्य दोनों मिलकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं :—(ओ३म्) वह परमात्मा (नौ सह अवतु) हम दोनों (गुरु और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे। (नौ सह भुनक्तु) हम दोनों का भोजनादि के द्वारा साथ-साथ पालन करें। (सह वीर्यं करवावहै) हम दोनों साथ-साथ विद्यासम्बन्धी बल अथवा पराक्रम प्राप्त करते रहें। (नौ अवधीतं तेजस्वि अस्तु) हम दोनों का पढ़ा हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। (मा विद्विषावहै) हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।
(ॐ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः) हमारे तीनों प्रकार के तापों की शान्ति हो।

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि अध्ययन से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा अपनी सुरक्षा होती रहे, भोजन प्राप्त होता रहे, पराक्रम करने की शक्ति उत्पन्न हो,

तेजस्विता बढ़े तथा आपस में द्वेष आदि की दूषित भावनाओं का समावेश न

हो। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक ये तीनों प्रकार के कष्ट शान्त रहें।

व्याख्या—वस्तुतः मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य इन त्रिविध तापों (कष्टों) से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही है। समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो यह न चाहता हो कि मुझे जीवन में कभी किसी भी प्रकार का कष्ट न हो—सभी सुखमय एवं आनन्दमय जीवन बिताना चाहते हैं। विश्व में कष्टों के प्रकारों की गणना नहीं की जा सकती है। कष्ट संख्यातीत हैं। किन्तु हमारे ऋषिओं ने उन असंख्य कष्टों की गणना प्रधान रूप से तीन प्रकार के कष्टों में ही की है। इन्हीं तीनों प्रधान कष्टों के अन्तर्गत विश्व के समस्त कष्टों का अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ दो-एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देना अधिक उपयुक्त होगा :—

आधिभौतिक ताप (कष्ट अथवा दुःख)—भूत–अर्थात् विश्व के समस्त प्राणियों द्वारा प्राप्त होने वाले कष्ट। जैसे—सर्प इत्यादि के द्वारा काट लिया जाना अथवा एक मनुष्य द्वारा दूसरे को पीड़ित किया जाना इत्यादि। समस्त जगत् में विद्यमान प्राणी चौरासी लाख योनियों में विराजमान हैं। इनमें से किसी भी योनि के प्राणी द्वारा जो कष्ट प्राप्त हुआ करता है, वही "आधिभौतिक ताप" अथवा कष्ट कहलाता है।

आधिदैविक ताप (कष्ट अथवा दुःख)—देव–अर्थात् देवताओं द्वारा प्राप्त होने वाले सब प्रकार के कष्ट या दुःख। जैसे–'इन्द्र' देवता वर्षा का देवता माना गया है। यदि उसकी कृपा से अत्यधिक वृष्टि हो जावे तो हमारी फसलों का नाश हो जायेगा अथवा यदि तनिक भी वर्षा होवे ही नहीं तो भी फसलों का विनाश होगा। इस भाँति अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि दोनों ही महान् प्रकार के कष्ट हैं।

आध्यात्मिक ताप—अर्थात् अपने आत्मा-सम्बन्धी कष्ट जिसमें आत्मा अपने साधनभूत इन्द्रिय मन के द्वारा कष्टों की अनुभूति करे। जैसे—ज्वर इत्यादि शारीरिक बीमारियों अथवा कष्टों का हो जाना।

त्रैतवादी आचार्यों के मतानुसार संसार में तीन पदार्थ स्वीकार किये गये हैं (१) प्रकृति (२) जीवात्मा (३) परमात्मा। इनमें (१) प्रकृति–सत्

है अर्थात् उसका अस्तित्व है। (२) जीवात्मा—इसको सत् एवं चित् कहा गया है। अर्थात् जीवात्मा का अस्तित्व है और वह चैतन्यस्वरूप भी है। (३) किन्तु परमात्मा को सच्चिदानन्द अर्थात् सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप माना गया है। उसका अस्तित्व है, वह चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप भी है। अब यहाँ हम देखते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों में केवल एक अन्तर है और वह यह कि जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं है। परमात्मा के इस आनन्द की प्राप्ति कर लेना ही मानव-जीवन का प्रधानतम लक्ष्य है। इसी को दूसरे शब्दों में 'मोक्ष' कहा जाता है। मानव-जीवन के लक्ष्यीभूत चारो पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में इसका ही स्थान अन्तिम है।

मोक्ष शब्द का अर्थ है—"छुटकारा"। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि किससे छुटकारा? इसी का उत्तर मिलता है कि "कष्टों" से। इन्हीं त्रिविध कष्टों अथवा तापों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अतएव इन्हीं त्रिविध अथवा सभी प्रकार के कष्टों से छुटकारा प्राप्त कर लेने का नाम ही 'मोक्ष' हुआ। जब साधक पुरुष साधन करते-करते मोक्ष की स्थिति के अनुरूप अपने को बना लेता है, तब वह परमात्मा में उस असीम आनन्द की अनुभूति करने लग जाता है।

इन्हीं त्रिविध कष्टों की अत्यन्त निवृत्ति अथवा विनाश का सर्वश्रेष्ठ साधन ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति (अर्थात् उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन अथवा ध्यान करना) ही है। इस ज्ञान की प्राप्ति भी योग्य गुरु द्वारा ही की जा सकती है।

कठोपनिषद् का प्रधान विषय भी ब्रह्म-विद्या (ईश्वरीय-ज्ञान) ही है, जिसका उपदेश योग्यतम गुरु आचार्य यम द्वारा शिष्य नचिकेता को दिया गया है।

गुरु एवं शिष्य द्वारा ब्रह्म-विद्या के उपदेश से पूर्व उपर्युक्त मन्त्र द्वारा भगवान् से प्रार्थना किया जाना आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस उपनिषद् के प्रारम्भ में उक्त प्रार्थना को स्थान दिया गया है।

उपनिषद् के प्रारम्भ में इस प्रकार की भगवत्-प्रार्थना किये जाने का एक गौण उद्देश्य यह भी हो सकता है कि गुरु एवं शिष्य दोनों मिलकर भगवान् से

प्रार्थना करते हों कि हम दोनों जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश देने और उपदेश ग्रहण करने के लिए उद्यत हो रहे हैं, वह हमारा पुनीत कार्य निर्विघ्न समाप्त हो। इस उपदेशरूपी कार्य के मध्य कोई किसी भी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित न हो।

शाङ्करभाष्यम्

[ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च। अथ काठकोपनिषद्बल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थम् अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते। सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादे संसारबीजस्य विशरणाद्धिसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १।३।१५) इति। पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्। तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २।३।१८) इति। लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति–स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते"(क० उ० १।१।१३)इत्यादि। ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलषन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च। एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति। एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद् आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामल-

कवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्लयो भवन्ति इत्यतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ।]

वाजश्रवा का सर्वमेध यज्ञ

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

पदच्छेद—उशन् । ह । वै । वाजश्रवसः । सर्ववेदसं । ददौ । तस्य । ह । नचिकेता । नाम । पुत्रः । आस ।

(ह, वै) यह प्रसिद्ध है कि (उशन्) परम सुख [आनन्द] की इच्छा रखने वाले (वाजश्रवसः) वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस अर्थात् उद्दालक ने विश्वजित् यज्ञ में (सर्ववेदसं) अपने सम्पूर्ण धनादि पदार्थों को (ददौ) दान में दे दिया । (तस्य) उसके (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता) नचिकेता (नाम) नाम का (पुत्रः) पुत्र (आस) था ।

वाजश्रवसः—वाजमन्नं तद्दानादि निमित्तं श्रवो यस्य सः वाजश्रवाः तस्यापत्यं वाजश्रवसः अर्थात् 'वाज' शब्द का अर्थ अन्न है, उस अन्न के दान में दिये जाने से जिसका 'श्रव' अर्थात् यश (कीर्ति) फैला हो उसी का नाम वाजश्रवाः है, उसकी सन्तान का नाम 'वाजश्रवस्' । इसी वाजश्रवस् को 'उद्दालक' नाम से भी कहा गया है । विश्वजित् = सर्वजित् अथवा सर्वमेध नामक यज्ञ होता है । इस यज्ञ में यजमान को अपना कहा जाने वाला सब कुछ दान में दे देना पड़ता है । वाजश्रवस अथवा उद्दालक ऋषि द्वारा सब कुछ दान में दे दिये जाने पर भी ऋत्विजों को देने के लिए और भी दान की आवश्यकता हुई । उस युग में 'गो-धन' ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था । वाजश्रवस-उद्दालक के घर में इस धन की प्रचुरता भी थी । उद्दालक ने कुछ उत्तम गायों को अपने पुत्र नचिकेता के निमित्त रोक रखा था । पुनः दान देने की आवश्यकता पड़ने पर उन्हें उन गायों को दान में दे देना चाहिए था, किन्तु नचिकेता के लोभ के कारण वह उन गायों का दान नहीं करना चाहता था । इसके विपरीत ऋषि वाजश्रवस के समीप कुछ ऐसी अदेय (दान न किये जाने योग्य) गायें भी थीं । उसने उन्हीं को दान में

देना प्रारम्भ कर दिया। इस अकरणीय कार्य को देखकर नचिकेता के मन में श्रद्धा का संचार हुआ और वह सोचने लगा :—

[**शां०**—तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था। उशन्कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ। वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा। तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः। स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्। तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥ १ ॥]

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

पद०—तम्। ह। कुमारम्। सन्तम्। दक्षिणासु। नीयमानासु। श्रद्धा। आविवेश। सः। अमन्यत।

(ह) यह प्रसिद्ध है कि (दक्षिणासु) ऋत्विजों के द्वारा दक्षिणा (दान) में (नीयमानासु) ले जाते हुए [जराजीर्ण उन गोओं को] देखकर (कुमारं सन्तं तं) कुमारावस्था में विद्यमान उस नचिकेता के हृदय में (श्रद्धा) आस्तिकता रूप बुद्धि [विचार] (आविवेश) प्रविष्ट हुई अर्थात् उत्पन्न हुई। (सः) उस नचिकेता ने (अमन्यत) मन में सोचा कि—

[**शां०**—तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह— ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥]

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ताः ददत् ॥३॥

पद०—पीतोदकाः। जग्धतृणाः। दुग्धदोहाः। निरिन्द्रियाः। आनन्दः। नाम। ते। लोकाः। तान्। सः। गच्छति। ताः। ददत्।

जो यजमान (पीतोदकाः) जलपान कर चुकी हुई अर्थात् जिनमें अब स्वयं जल पीने की शक्ति भी शेष नहीं रह गयी है (जग्धतृणाः) घास

इत्यादि खा चुकी हुई अर्थात् जिनमें अब घास इत्यादि को चबाने और खाने का सामर्थ्य नहीं है तथा (दुग्धदोहाः) जिनका अन्तिम दुग्ध-दोहन किया जा चुका है और (निरिन्द्रियाः) सन्तानोत्पत्ति की शक्ति से रहित अर्थात् जो वृद्धावस्था से जीर्ण और निरर्थक हैं, (ताः) इस प्रकार की गायों का (ददद्) दान करता है (सः) यह यजमान पुरुष (अनन्दा नाम) आनन्द से रहित (ते, लोकाः, तान्) उन लोकों को (गच्छति) प्राप्त होता है ।

व्याख्या—दान में दी जाने वाली वस्तु को उत्तम से उत्तम होना चाहिए । गौ का दान करना उत्तम है, किन्तु वह गौ बछड़े सहित तथा दूध देने वाली होनी चाहिए । उपर्युक्त प्रकार की गायें तो सर्वथा अदेय हैं । ऐसी गौओं का दान करने से दाता को अनिष्ट फल की ही प्राप्ति होगी । निकृष्ट पदार्थ दान करने से दाता को इस लोक में अकीर्ति तथा परलोक में नरक की प्राप्ति होती है । फिर मेरा पिता ऐसी अदेय गौओं का दान क्यों कर रहा है । इससे तो यह कदापि स्वर्ग का भागी नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त कुछ उत्तम गायें उन्होंने मेरे ही लोभ के कारण छोड़ रखी हैं । उनको दान में क्यों नहीं दे रहे हैं ? पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता को नरक में जाने से बचाये, क्योंकि पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति ही है :—

"पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः ।"

अर्थात् जो नरक में जाने से रक्षा करता है (बचाता है) वह पुत्र कहलाता है । इस प्रकार संकल्प विकल्प करते हुए नचिकेता इस परिणाम पर पहुँचता है कि कुछ उत्तम गायें पिताजी ने मेरे कारण रोक रखी हैं । विश्वजित् यज्ञ में सब कुछ दान में दे देना पड़ता है । अतः मै ही पिता से क्यों न पूछ लूँ कि मुझे किसको दान में दे रहे हैं । यदि मैं ही नहीं रहूँगा तो मेरे कारण रुकी हुई उत्तम गायों के रोक रखने का प्रलोभन भी पिता के अन्दर नहीं रहेगा, क्योंकि "न रहेगा बांस, न बजेगी बाँसुरी" । इसके अतिरिक्त सर्वजित् यज्ञ में अपनी सर्वोत्तम और सर्वाधिक प्रिय वस्तु का दान करने से पिता भी उत्तम परलोक के भागी बन सकेंगे । पिता को वह सर्वाधिक प्रिय था । अतः उसने यही निश्चय करके पिता से बार बार पूछा कि आप मुझको किसके लिए दे रहे हैं ?

[शां०—कथमित्युच्यते—दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः, जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः, दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः, निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः। यस्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्धया ददत्प्रयच्छन्नन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥]

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं तँ्होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

पद०—सः । ह । उवाच । पितरम् । तत । कस्मै । माम् । दास्यसि । इति । द्वितीयम् । तृतीयम् । ह । उवाच । मृत्यवे । त्वा । ददामि । इति ।

(सः) उस नचिकेता ने (पितरं) पिता के समीप जाकर (उवाच) कहा (तत) हे तात ! (कस्मै) किस ऋत्विग् के लिए (मां) मुझको (दास्यसि) दोगे ? (इति) इस प्रकार (द्वितीयं) दो बार (तृतीयं) तीन बार पिता से कहा। तब पिता ने क्रोधित होकर (ह, उवाच) कहा (त्वा) तुझको (मृत्यवे) यम के लिए (ददामि इति) देता हूँ।

व्याख्या—ऋषि होने पर भी जब वाजश्रवस (उद्दालक) धार्मिक कार्य करते समय लोभ के वशीभूत होकर अधार्मिक कार्य करने लगे तो इस असत् कर्म के प्रभाव से उनकी बुद्धि दूषित हो गयी थी। इसी कारण वे अपने धर्म-कार्य-रत पुत्र नचिकेता के बालसुलभ एवं धर्मभावोपपन्न तथा पितृभक्ति से परिपूर्ण वचनों का वास्तविक अर्थ न समझ सके और उसके द्वारा बार बार कहे जाने पर क्रोधित भी हो गये। बालक नचिकेता का विचार तो श्रद्धा एवं कर्तव्य के भावों से परिपूर्ण था और अपने पिता को अनुचित कार्य से हटाकर सचेत करने का था। दूषित एवं मलिन पिता की बुद्धि में यह भाव जाग्रत न हो सका और उन्होंने विचलित होकर अपने पुत्र नचिकेता से "मृत्यवे त्वा ददामि" जैसे अशुभ वचनों को ही कह डाला। इस भाँति पिता को क्रोधित हुए देख कर नचिकेता को आश्चर्य हुआ और वह अपने मन ही मन सोचने लगा।

[शां०—तदेव क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता

निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥]

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳस्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

पद०—बहूनाम्। एमि। प्रथमः। बहूनाम्। एमि। मध्यमः। किंस्वित्। यमस्य। कर्तव्यम्। यत्। मया। अद्य। करिष्यति।

(बहूनां) अनेक शिष्य तथा पुत्रादिकों के बीच (प्रथमः) मैं प्रथम (एमि) हूँ। (बहूनां) बहुतों में मैं (मध्यमः) मध्यम स्थान रखता (एमि) हूँ। (यमस्य) यम का (किंस्वित्) कौन सा (कर्तव्यं) करणीय कार्य है (यत्) कि जो (अद्य) आज (मया) मेरे द्वारा (करिष्यति) कराया जायेगा।

व्याख्या—प्राचीन वैदिक युग में प्रायः ऋषिकुमारों को अपने पिता के ही समीप रहकर गुरु-गृहवास का भी पावन सुख उपलब्ध हो जाता था। नचिकेता वाजश्रवस का पुत्र तो था ही, साथ ही एक उत्तम शिष्य भी। अतः वह अपने गुरु एवं पिता के प्रति कृतज्ञ होकर अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न होकर सोचने लगा—"उक्त दोनों सम्बन्धों को मैं यथाशक्ति भलीभांति उत्तम धर्म-भाव के साथ निभाता रहा हूँ और इस कर्तव्य-पालन में मैं सदैव उत्तम अथवा मध्यम श्रेणी का ही शिष्य रहा हूँ, कभी निम्न श्रेणी का नहीं रहा हूँ। फिर मेरे पिता ने मुझे मृत्यु (यम) को क्यों दिया है ? मेरे आदरणीय पिता तथा गुरुदेव ने जो इस प्रकार की आज्ञा मुझे दी है, इसमें मेरा भाग्य ही कारण हो सकता है। और फिर वे तो ऋषि हैं अतः असत्य वचन उनके मुख से निकल ही नहीं सकता है। अतः मेरी मृत्यु अवश्य होगी और मैं यमलोक को जाऊँगा। इस प्रकार की विचित्र और भयंकर परिस्थिति में भी नचिकेता की बुद्धि विचलित नहीं हुई और वह सोचने लगा कि "मेरी मृत्यु होकर यमलोक में पहुँचने पर वहाँ मेरा कुछ शुभ ही होगा। वह शुभ क्या

है ? वह पिता का ऐसा कौन-सा कार्य है, जो मेरी इस यात्रा में सिद्ध किया जा सकता है। इत्यादि इत्यादि"।

[यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मात्मा एवं सात्त्विक श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति की पितृभक्ति, गुरुभक्ति एवं धर्म पर दृढ़ता महान् से महान् विघ्न अथवा भयंकर परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी नष्ट नहीं हुआ करती।]

इधर उसके पिता की स्थिति भी विचित्र थी। वे अपने मन में बार-बार सोच रहे थे कि यह मैंने क्या कह डाला ? उनके हृदय में बार-बार यह भावना उत्पन्न हो रही थी कि उन्होंने क्रोधावेश में आकर ऐसा अनुचित कार्य क्यों कर डाला ? वे यह भी सोचते थे कि जो कुछ मैंने कह डाला है, उसका पालन मेरे द्वारा अवश्य ही किया जाना चाहिये, किन्तु फिर भी वे अपने पुत्र को अपने से पृथक् भी नहीं करना चाहते थे। इस प्रकार उनके मन की विचित्र स्थिति हो रही थी। इस प्रकार की अपने पिता की स्थिति को मुखाकृति द्वारा ही समझकर वह नचिकेता अपने पश्चात्ताप से शोकाकुल पिता के प्रति कहने लगा।

[**शां०**—स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार। कथम् ? इत्युच्यते—बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः। मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि। नाधमया कदाचिदपि। तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता। स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता। तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥५॥]

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

पद०—अनुपश्य। यथा। पूर्वे। प्रतिपश्य। तथा। अपरे। सस्यम्। इव। मर्त्यः। पच्यते। सस्यम्। इव। आजायते। पुनः।

आप (पूर्वे) अपने पूर्वजों के (यथा) सदृश (अनुपश्य) देखिये अर्थात् आप अपने पिता, पितामह आदि के समान आचरण कीजिये। (तथा) और

(अपरे) अन्य वर्त्तमान साधु-सज्जन पुरुषों के चरित्र की ओर भी (प्रतिपश्य) देखिये। (मर्त्यः) मरणधर्मा यह पुरुष (सस्यमिव) अन्न की खेती के सदृश (पच्यते) पक जाता है अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त होकर मरता है और मरकर (सस्यम् इव) अन्न के समान ही (पुनः) फिर (आजायते) उत्पन्न होता है।

व्याख्या—नचिकेता ने विनम्र भाव के साथ अपने पिता से कहा कि हे पिता जी ! आप अपने पूर्वजों एवं वर्त्तमान युग के साधु पुरुषों के चरित्र की ओर दृष्टिपात कीजिये । उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसका पालन सदैव किया है (महान पुरुषों का तो यह लक्षण ही है कि ये "यन्मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति, तत्कर्मणा करोति" अर्थात् वे मन, वाणी और कर्म से सदैव एक हुआ करते हैं ।) आप भी उसी का अनुसरण कीजिये । क्योंकि संसार में अन्न के सदृश जो उत्पन्न होता है, उसका मरण भी अवश्यम्भावी है। अतः आपको मेरी मृत्यु के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक दिन तो इस संसार से जाना ही है। संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं है । इस भाव को समझते हुए आप किसी भी प्रकार का शोक न कीजिये और मुझे मृत्यु के समीप जाने दीजिये, ताकि मैं आपके कथन को पूर्ण करने तथा उसकी सत्यता को सिद्ध करने योग्य बन सकूँ । आप ऋषि हैं, सत्य के मार्ग से आप अपने को विचलित न कीजिये। आपने जो मुख से कहा है, उसकी सत्यता सिद्ध कीजिये ।

नचिकेता की उपर्युक्त बात को सुनकर उसके पिता वाजश्रवस ने उसे यमाचार्य (मृत्यु) के समीप भेज दिया ।

नचिकेता जिस समय मृत्यु (यमाचार्य) के घर पहुँचे उस समय यमाचार्य वहाँ उपस्थित न थे । वे कहीं बाहर गये हुए थे । यमाचार्य की पत्नी आदि के द्वारा अतिथि नचिकेता से अनेक बार भोजनादि करने के निमित्त कहा गया, किन्तु नचिकेता ने अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वह जानता था कि दान में दी जाने वाली वस्तु को उसी रूप में ही जिस रूप में वह दी गई है, देय व्यक्ति के समीप पहुँच जाना चाहिए। हो सकता था कि वह यदि वहाँ अन्न-जल आदि ग्रहण करता तो उसका मन

कुछ बदल जाता (यह सिद्धान्त है कि "जैसा खाइये अन्न वैसा बनेगा मन"।) और वह देय व्यक्ति, (मृत्यु) के समीप अपने वास्तविक रूप में न पहुँच पाता। अतः वह वहाँ तीन दिन तक बिना भोजनादि ग्रहण किये निवास करता रहा। जब तीसरे दिन यमाचार्य अपने घर वापिस आये तो उनकी पत्नी ने उनसे कहा।

[शां०—अनुपश्यालोचय निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव। तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि। वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्त्तमानं वास्ति। तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति। यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। पालय आत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः॥ ६॥]

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

पद०—वैश्वानरः। प्रविशति। अतिथिः। ब्राह्मणः। गृहान्। तस्य। एताम्। शान्तिं। कुर्वन्ति। हर। वैवस्वत। उदकम्।

(हे वैवस्वत !) हे विवस्वान् के पुत्र यम ! आपके (गृहान्) घर पर (वैश्वानरः) अग्नि के सदृश देदीप्यमान कान्ति से युक्त तेजस्वी (ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञानी (अतिथिः) अतिथि (प्रविशति) प्रवेश कर चुका है अर्थात् आया हुआ है (तस्य) उस अतिथि की गृहस्थी पुरुष (एताम्) इस सत्कारपूर्वक (शान्तिं) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं। अतः आप भी (उदकं) जल आदि को (हर) ले जाइये। अर्थात् आये हुए अतिथि की शान्ति के निमित्त उसके पादप्रक्षालन तथा बैठने आदि के लिए जल एवं आसनादि देकर उसका सत्कार किया जाता है। वह आप भी जाकर कीजिये।

वस्तुतः अतिथि का उचित आदर सत्कार आदि न करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है।

[शां०—स एवमुक्तः पितात्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीः उवास यमे प्रोषिते । प्रोष्यागतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्ति कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥]

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्च,
इष्टापूर्ते पुत्र-पशूꣳश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

पद०—आशाप्रतीक्षे । सङ्गतं । सूनृताम् । च । इष्टापूर्त्ते । पुत्रपशून् । च । सर्वान् । एतत् । वृङ्क्ते । पुरुषस्य । अल्पमेधसः । यस्य । अनश्नन् । वसति । ब्राह्मणः । गृहे ।

(यस्य, पुरुषस्य) जिस मनुष्य के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता अतिथि (अनश्नन्) बिना भोजनादि किये (वसति) निवास करता है, (तस्य, अल्पमेधसः) उस अल्पबुद्धि वाले पुरुष की (आशाप्रतीक्षे) आशा, प्रतीक्षा, (संगतं) सत्संगति, (सूनृतां) प्रिय वाणी (च) और (इष्टापूर्त्ते) इष्ट, आपूर्त्त इनका फल (च) और (सर्वान्) सब (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत्) इन सब का, सत्कार न किया गया हुआ अतिथि (वृङ्क्ते) नाश करता है ।

आशा—अज्ञात प्राप्य वस्तु की प्रार्थना को आशा कहते हैं ।

प्रतीक्षा—ज्ञात प्राप्य वस्तु की प्रार्थना को प्रतीक्षा कहते हैं ।

संगतं—सत्संग का परिणाम ।

सूनृता—प्रिय वाक्य बोलने का फल ।

इष्ट—किये गये यज्ञ का फल ।

आपूर्त्त—सामाजिक भलाई अथवा परोपकार की दृष्टि से बनवाई गयी धर्मशाला, पाठशाला आदि का फल ।

तात्पर्य यह है कि जिसके घर से अतिथि भूखा जाता है, उसके उपर्युक्त

सम्पूर्ण शुभ कर्मों का फल भी अतिथि अपने साथ ही ले जाता है अर्थात् उस व्यक्ति को उपर्युक्त शुभ कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता है। इस भाँति उसके उपर्युक्त सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं। अतः किसी भी दशा में अतिथि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसके विपरीत उसका यथायोग्य सत्कार करना चाहिए, जिससे अपने किये हुए सभी शुभ कर्मों का फल भलीभाँति प्राप्त हो सके।

इस प्रकार यमाचार्य की पत्नी ने अपने पति यमाचार्य से निवेदन किया— किसी के घर ब्राह्मण अतिथि आकर तीन दिन तक भूखा एवं प्यासा रहे, यह किसी भी गृहस्थ पुरुष के लिए उचित नहीं है। अतः आप सर्वप्रथम आये हुए अतिथि को अपने सत्कारादि द्वारा प्रसन्न करने का यत्न कीजिये। यह सुन कर यमाचार्य नचिकेता के समीप जाकर कहते हैं।

[शा०—आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशानिर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे, संगतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्र-पशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत् पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य—यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥८॥]

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽ-
नश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु,
तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

पद०—तिस्रः। रात्रीः। यत्। अवात्सीः। गृहे। मे। अनश्नन्। ब्रह्मन्। अतिथिः। नमस्यः। नमः। ते। अस्तु। ब्रह्मन्। स्वस्ति। मे। अस्तु। तस्मात्। प्रति। त्रीन्। वरान्। वृणीष्व।

(हे ब्रह्मन् नमस्यः अतिथिः) हे ब्रह्मवित् एवं नमस्कार करने योग्य अतिथि नचिकेता! (ते) आपको मेरा (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो अर्थात् मैं आपको प्रणाम करता हूँ। (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) होवे। (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मण! (यत्) जो आपने (मे) मेरे (गृहे) घर में

(तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात (अनश्नन्) बिना खाये पिये (अवात्सीः) निवास किया है (तस्मात्) इस कारण (प्रति) एक एक रात के प्रति (त्रीन्) तीन (वरान्) वरों को (वृणीष्व) मांग लो ।

व्याख्या—भारतीय संस्कृति के आधार पर अतिथि सदैव आदरणीय एवं पूजनीय माना गया है और फिर ऐसा अतिथि जो ब्रह्मवित् भी हो, तब तो फिर कहना ही क्या । नचिकेता ब्रह्मवित् था । उसने ब्रह्म विद्या का अध्ययन किया था । अतः वह पूर्णतया आदरणीय एवं सत्करणीय हुआ । फिर इस प्रकार का अति योग्य अतिथि किसी के दरवाजे पर बिना खाये पिये पड़ा रहे तो यह गृहस्थ व्यक्ति के लिए अत्यन्त शोचनीय एवं दुःखपूणं बात है । और फिर वह भी एक दिन नहीं, तीन तीन दिन । ऐसी स्थिति में गृहस्थ यमाचार्य के लिये आवश्यक हो गया कि वह सर्वप्रथम अपने आये हुए अतिथि का आदर-सत्कार करे और उसे सर्वप्रकार प्रसन्न करे कि जिससे उसका सर्वविध कल्याण हो । अतः उसने पहले जल एवं अन्न आदि के द्वारा अतिथि नचिकेता का आदर-सम्मान किया तथा आये हुए अतिथि द्वारा तीन दिन तक विना खाये पिये दरवाजे पर पड़े रहने के प्रायश्चित्तस्वरूप उसे तीन वर भी प्रदान किये ।

अतः अब नचिकेता आचार्य यम से प्रथम वर की याचना करता हुआ कह रहा है ।

[**शां०**—एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतासमुपगम्य पूजापुरःसरम्—तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीः उषितवानसि गृहे मे ममानश्नन् हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वधिकसंप्रसादनार्थमनशनेनोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥९॥]

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्,
वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

पद०—शान्तसङ्कल्पः। सुमनाः। यथा। स्यात्। वीतमन्युः। गौतमः। मा। अभि। मृत्यो। त्वत्। प्रसृष्टम्। मा। अभि। वदेत्। प्रतीतः। एतत्। त्रयाणाम्। प्रथमम्। वरम्। वृणे।

(हे मृत्यो !) हे यमाचार्य ! (गौतमः) गौतम का पुत्र मेरा पिता उद्दालक (मा अभि) मेरे प्रति (यथा) यथापूर्व [पूर्ववत्–पहले की ही तरह] (शान्तसंकल्पः) शान्त चित्त एवं शान्त विचारों वाला (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला (वीतमन्युः) क्रोधरहित (स्यात्) हो जाये। तथा (त्वत्, प्रसृष्टं) आपके द्वारा भेजे गये (मा, अभि) मुझको देखकर (प्रतीतः) पहचान कर कि यह मेरा वही पुत्र नचिकेता है जिसको मैने मृत्यु के समीप भेजा था, (वदेत्) बोले अर्थात् मुझसे बातचीत करे। (एतत्) यह (त्रयाणां) तीन वरों में से (प्रथमं) पहला (वरं) वर (वृणे) मांगता हूँ।

व्याख्या—इस भाँति नचिकेता ने यम से कहा कि हे मृत्यो ! यदि आप मुझे वर देने की इच्छा रखते हैं तो प्रथम वर तो मुझे यही दीजिये कि मेरे पिता की मानसिक-उद्विग्नता अर्थात् "मेरा पुत्र यम के समीप जाकर क्या करेगा" इत्यादि प्रकार की चिन्ता से युक्त उनका मन शान्त हो जाये तथा उन्होंने जो मेरे प्रति क्रोध किया था, वह क्रोध भी पूर्णतया शान्त हो जाये और वे मुझसे प्रसन्न हो जायें। जब मैं आप के द्वारा आदेश प्राप्त कर अपने घर जाऊँ, तब मेरे पिता मुझे भलीभाँति पहचान सकें कि "यह वही मेरा पुत्र आया है" और वे यह भी समझ सकें कि यह मेरा पुत्र मृत्यु की बिना आज्ञा के यहाँ नहीं आया है अर्थात् उनकी आज्ञा लेकर ही उपस्थित हुआ है।

यहाँ हम देखते हैं कि नचिकेता को मृत्यु के समीप आ जाने पर भी अपने पिता का एवं अपने कर्तव्य का पूरा पूरा ध्यान है। वह जानता है कि क्रोध-संपन्न व्यक्ति कार्य का अकार्य कर बैठता है। वह सोचता है कि मेरे पिता क्रोध के आवेश में आकर कोई ऐसा कार्य न कर डालें कि जिससे उनका भविष्य ही बिगड़ जाये क्योंकि :—

"क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति !।" गीता २।६३।।

अर्थात् क्रोध से अज्ञान की उत्पत्ति होती है, अज्ञान के कारण स्मरणशक्ति भी दूषित होकर नष्ट हो जाती है। स्मरणशक्ति के नष्ट होने से बुद्धि का नाश हो जाता है और फिर बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य का विनाश ही होता है।

संसार में रहते हुए मनुष्य की प्रधान रूप से दो ही प्रकार की इच्छाएँ हुआ करती हैं—(१) ऐहलौकिक–अर्थात् इस लोक से सम्बन्धित इच्छाएँ और (२) पारलौकिक-अर्थात् स्वर्गलोक अथवा आनन्दलोक से सम्बन्धित इच्छाएँ। पहले वह अपनी इस लोक से सम्बन्धित अभिलाषाओं की पूर्ति करना चाहता है और जब उसकी ऐहलौकिक इच्छाएँ शान्त या समाप्त हो जाती हैं, तब वह परलोक-सम्बन्धी इच्छाओं को पूर्ण करने के निमित्त प्रयास किया करता है। नचिकेता की मृत्यु के समीप पहुँचने के पश्चात् इहलोक-सम्बन्धी सभी इच्छाएँ स्वयं ही शान्त हो चुकी थीं। अपने कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए केवल एकमात्र यही उसकी अभिलाषा अवशिष्ट थी कि मेरे पिता के अन्दर क्रोध की उत्पत्ति का कारण मैं ही हूँ। न मैं बार-बार पूछता और न उनको क्रोध आता। कहीं उस क्रोध का परिणाम भविष्य में उनकी लक्ष्यपूर्ति में बाधक न बने, उन्होंने जिस उद्देश्य से 'विश्वजित्' यज्ञ किया था उसका परिणाम उन्हें अवश्य प्राप्त हो, उनको नरक लोक में न जाना पड़े (पुत्र शब्द का तो अर्थ ही है कि जो अपने पिता को नरक में जाने से बचाये)। अतः उसने अपने पिता के क्रोधशून्य एवं प्रसन्नचित इत्यादि हो जाने से सम्बन्धित प्रथम वर की याचना यम से की।

यम (मृत्यु) के समीप से लौटकर पुनः अपने घर वापस जाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उसकी इच्छा थी कि वह पूर्ण शान्त रूप में स्थित अपने पिता का दर्शन एक बार अवश्य करे तथा पितृ-परितोष की दृष्टि से वह यह भी चाहता था कि उसका पिता पूर्ण शान्त स्थिति में विद्यमान होकर अपने पुत्र नचिकेता का दर्शन भी कर ले, जिससे कि उसके हृदय में विद्यमान अपने पुत्र-सम्बन्धी शोक की ज्वाला भी पूर्णरूपेण शान्त हो जाये और वह प्रसन्न चित्त होकर अपने उद्दिष्ट कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सके।

अतएव प्रथम वर में ही उसने प्रथम वर की याचना की ... स्वतः ही अपनी मन

मांग भी प्रस्तुत कर दी कि "त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीतः"। यद्यपि उसके अगले दो वर इस बात के प्रमाण हैं कि वह इस संसार में पुनः आने का इच्छुक नहीं था किन्तु केवल एकमात्र पिता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने हेतु ही उसकी इस प्रकार की अभिलाषा रही होगी। अतएव धर्ममूर्ति भगवान् यम के गृह में अतिथि रूप में सत्कृत होने पर भी तथा उनकी कृपा का पात्र बन जाने पर भी सर्वप्रथम उसके अन्दर पिता का उपकार करने की पवित्र भावना उद्भूत हुई थी। नचिकेता धार्मिक एवं मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखने वाला) था। इस कारण उसका मन शुद्ध हो जाने पर भी पितृ-भक्ति के कारण अपने पिता की ओर आकर्षित हुआ था। इस प्रकार यहाँ पर पुत्र-धर्म का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है।

नचिकेता के इस प्रथम वर को श्रवण कर यमाचार्य बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे वर प्रदान करते हुए कहते हैं।

[**शां०**—नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्—शान्तसङ्कल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

मृत्युरुवाच—

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत-
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

पद०—यथा। पुरस्तात्। भविता। प्रतीतः। औद्दालकिः। आरुणिः। मत्। प्रसृष्टः। सुखम्। रात्रीः। शयिता। वीतमन्युः। त्वम्। ददृशिवान्। मृत्युमुखात्। प्रमुक्तम्।

आरुणिः—"अरुणस्य अपत्यं पुमान् आरुणिः" अर्थात् अरुण का पुत्र ।
औद्दालकिः—"उद्दालक एव औद्दालकिः" अर्थात् उद्दालक ही औद्दालकि हैं ।

(आरुणिः) अरुण के पुत्र तुम्हारे पिता (औद्दालकिः) उद्दालक (यथा) जैसे (पुरस्तात्) मेरे घर आने से पूर्व तुम्हारे प्रति (प्रतीतः) स्नेहसम्पन्न थे, वैसे ही (मत्प्रसृष्टः) मेरे द्वारा आज्ञप्त तुम्हारे वहाँ जाने पर भी (भविता) प्रसन्न होंगे । (मृत्युमुखात्) मेरे अधिकार से (प्रमुक्तम्) छूटे हुए (त्वां) तुमको (ददृशिवान्) देखेंगे । और (वीतमन्युः) क्रोधरहित होकर (रात्रीः) रात्रियों में (सुखम्) सुखपूर्वक (शयिता) शयन करेंगे । अर्थात् सोवेंगे ।

व्याख्या—मृत्यु ने नचिकेता से कहा—हे नचिकेता ! मेरे द्वारा प्रषित तुम जब अपने पिता के समीप पहुँचोगे तो वह तुमको तुरन्त पहचान लेंगे, तुमको मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखकर अति प्रसन्न होंगे [मृत्यु के मुख से छूटे हुए अपने पुत्र को देखकर किस पिता को प्रसन्नता नहीं होगी ?] और उनका मन अपूर्व शान्ति का अनुभव करने लगेगा । इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर उनका क्रोध तो स्वयं ही शान्त हो जायगा और इस भाँति क्रोधरहित होकर वे सुख से उत्तम गाढ़निद्रा का अनुभव करते हुए रात्रि में शयन करेंगे ।

इस भाँति ऐहलौकिक प्रथम वर प्राप्त करने के पश्चात् नचिकेता अब परलोक-सम्बन्धी द्वितीय वर की याचना यमाचार्य से करता है ।

[1] [शां०—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्ताद् पूर्वमासोत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः उद्दालक एवौद्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिः, द्व्यामुष्यायणो वा । मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ।। ११ ।।

नचिकेता उवाच—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति,
न तत्र त्वं, न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे,
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। १२ ।।

पद०—स्वर्गे । लोके । न । भयम् । किञ्चन । अस्ति । न । तत्र । त्वम् । न । जरया । बिभेति । उभे । तीर्त्वा । अशनायापिपासे । शोकातिगः । मोदते । स्वर्गलोके ।

(स्वर्गे, लोके) स्वर्गलोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयं) भय (न, अस्ति) नहीं है । (न, तत्र) न वहाँ (त्वम्) तुम ही हो और (न) न कोई (जरया) बुढ़ापे से ही (बिभेति) डरता है । (अशनायापिपासे) भूख और प्यास (उभे) दोनों का (तीर्त्वा) अतिक्रमण करके (शोकातिगः) शोक-दुःख से मुक्त होकर मनुष्य (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) प्रसन्नता का अथवा सुख का अनुभव किया करता है ।

व्याख्या—यह मन्त्र स्वर्ग की महिमा का द्योतक है । जो दुःखपूर्ण स्थान अथवा लोक हैं वे 'नरकशब्दवाच्य' होते हैं और जो सुखपूर्ण स्थान अथवा लोक हैं, वे स्वर्ग कहलाते हैं । स्वर्ग में रोगादि के द्वारा उत्पन्न होनेवाला कोई भय नहीं है । मृत्यु को भी वहाँ पहुंच नहीं है । इसी कारण इस लोक की भाँति वहाँ कोई वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं करता है और वृद्धावस्था न प्राप्त होने के कारण वहाँ मृत्यु के भय से कोई भयभीत नहीं रहा करता है । भूख-प्यास दोनों पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर ये दोनों भूख तथा प्यास वहाँ किसी को भी नहीं सताती हैं । इस भाँति स्वर्गलोक में व्यक्ति शोकरहित अर्थात् मानसिक दुःख से रहित होकर आनन्द का अनुभव किया करता है । स्वर्गलोक की प्राप्ति वैदिककर्म अथवा अनुष्ठानों पर निर्भर है । मीमांसा दर्शन में इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है । स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को यज्ञ करना चाहिये—'स्वर्गकामो यजेत' ।

इससे स्पष्ट है कि यज्ञ करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है । अतः यज्ञरूप कर्मजन्य स्वर्ग हुआ । अब नचिकेता उस स्वर्ग प्राप्ति की साधनभूत अग्नि के सम्बन्ध में यमाचार्य से प्रश्न करता है ।

[**शां०**—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचदपि नास्ति न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वतो न बिभेति कुतश्चित् तत्र । किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन् मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥ १२ ॥]

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो,
प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त–
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ।।१३।।

पद०—सः । त्वम् । अग्निम् । स्वर्ग्यम् । अध्येषि । मृत्यो । प्रब्रूहि । तम् । श्रद्दधानाय । मह्यम् । स्वर्गलोकाः । अमृतत्वम् । भजन्ते । एतत् । द्वितीयेन । वृणे । वरेण ।

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (सः, त्वं) वह तुम (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली (अग्नि) अग्नि को (अध्येषि) जानते हो । (तं) उस अग्नि का (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (प्रब्रूहि) कथन कीजिये, जिसका अनुष्ठान करने से (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग को प्राप्त हुये मनुष्य (अमृतत्वं) अमरता का (भजन्ते) सेवन करते हैं । (एतत्) यह, मैं (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा (वृणे) माँगता हूँ ।

व्याख्या—यहाँ वह यमाचार्य से कह रहा है :—हे यमाचार्य ! आप उस स्वर्ग की साधनभूत अग्नि के बारे में भलीभाँति जानते हो । अतः मुझ श्रद्धालु के लिये भी उस अग्नि का उपदेश दीजिये, जिससे कि मैं भी स्वर्ग का अधिकारी बन सकूँ । यही मैं दूसरा वर आपसे माँगता हूँ । इस पर यम कहता है :—

[**शा०**—एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासि इत्यर्थः, हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने; येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः, यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति । तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ।।१३।।]

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ।।१४।।

पद०—प्र । ते । ब्रवीमि । तत् । उ । मे । निबोध । स्वर्ग्यम् । अग्निम् । नचिकेतः । प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिम् । अथो । प्रतिष्ठाम् । विद्धि । त्वम् । एतम् । निहितम् । गुहायाम् ।

(हे नचिकेतः) हे नचिकेता । (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग की साधनभूत (अग्नि) उस अग्नि को (प्रजानन्) भलीभाँति जानता हुआ मैं (ते) तेरे लिये (प्रब्रवीमि) कहता हूँ । (तत्) उस अग्नि की (मे) मेरे द्वारा अथवा मुझसे (निबोध) भलीभाँति जान लो, समझ लो । (त्वं) और तुम (एतम्) इस (अनन्तलोकाप्तिम्) दीर्घकाल तक स्थित रहने वाले स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधन एवं (प्रतिष्ठाम्) सम्पूर्ण लोकों की स्थिति का कारणभूत अग्नि को (गुहायाम्) सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयरूपी गुफा में (निहितम्) स्थित (विद्धि) जानो ।

व्याख्या—यमाचार्य नचिकेता को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि स्वर्ग की साधनभूत अग्नि का, जिसका मुझे पूर्णतया अनुभव एवं ज्ञान है, उपदेश मैं तेरे लिये करता हूँ । तू मेरे उपदेश अथवा कथन को सावधान चित्त होकर सुन । यह अग्नि अनन्त सुखों की प्राप्ति का साधन है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों में इसी के द्वारा वैदिककर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है और यही वैदिककर्मों की प्रतिष्ठा है अर्थात् गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त सम्पूर्ण कर्म इसी के द्वारा किये जाते हैं ।

अब यमाचार्य उस अग्नि के चयन करने का प्रकार बतलाते हैं :—

[**शां०**—प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि; यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाग्निं स्तौति । अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत् अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि । त्वं निहित स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ।।१४।।]

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः।।१५।।

पद०—लोकादिम् । अग्निम् । तम् । उवाच । तस्मै । याः । इष्टकाः ।

यावतीः । यथा । वा । सः । च । अपि । तत् । प्रत्यवदत् । यथा । उक्तम् । अथ । अस्य । मृत्युः । पुनः । एव । आह । तुष्टः ।

यमाचार्य ने (तस्मै) उस नचिकेता के लिये (लोकादि) लोकों का आदि कारणभूत (तं) उस (अग्निं) अग्नि का (उवाच) कथन किया अथवा वर्णन किया । (याः) जिस आकार वाली, (यावतीः) जिस संख्या में (या इष्टकाः) ईंटों का चयन करना चाहिये तथा (यथा) जिस प्रकार से अग्नि चयन करना चाहिये । यह सभी वर्णन यम ने किया । (सः) उस नचिकेता ने (अपि) भी (यथा-उक्तम्) मृत्यु द्वारा कथित (तत्) उस उपदेश को (प्रत्यवदत्) ज्यों का त्यों सुना दिया । (अथ) इसके पश्चात् (तुष्टः) प्रसन्न हुये (मृत्युः) यमाचार्य ने (अस्य) इस नचिकेता के प्रति (पुनः एव) फिर (आह) कहा ।

व्याख्या—तदनन्तर यमाचार्य ने लोकों की आदि कारणभूत अग्नि का वर्णन बड़े विस्तार के साथ नचिकेता के समक्ष किया । यज्ञकुण्ड में किस आकार की कितनी ईंटें किस भाँति लगनी चाहिये तथा उसमें किस भाँति अग्नि का चयन आदि किया जावे, उसकी सम्पूर्ण विधि को समझाया । पुनः यम ने नचिकेता से पूछा—यह सब तुम्हारी समझ में आ गया ?—इसके उत्तर में नचिकेता ने यम द्वारा कथित सम्पूर्ण उपदेश को जैसे का तैसा सुना दिया । यह सुनकर यम अत्यधिक प्रसन्न हुआ और नचिकेता से पुनः कहने लगा :—

शां०—लोकादि लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा संख्या, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतद् उक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युचारितवान्। अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥१५॥]

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा,

वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

पद०—तम् । अब्रवीत । प्रीयमाणः । महात्मा । वरम् । तव । इह । अद्य । ददामि । भूयः । तव । एव । नाम्ना । भविता । अयम् । अग्निः । सृङ्काम् । च । इमाम् । अनेकरूपाम् । गृहाण ।

(महात्मा) यमाचार्य ने (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तं) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) कहा–(इह) इस द्वितीय वर के प्रसङ्ग में (तव) तुझे (अद्य) आज (भूयः) पुनः (वरम्) एक और वर को [अपनी ओर से] (ददामि) देता हूँ (अयम्) मेरे द्वारा वर्णित (अग्निः) यह अग्नि (तव) तुम्हारे (एव) ही (नाम्ना) नाम से [नाचिकेत नाम से] प्रसिद्ध (भविता) होगी । (इमाम्) इस (अनेकरूपां) अनेकरूपों वाली (सृङ्काम्) शब्दरूपिणी [ज्ञानतत्व-मयी] माला को (गृहाण) स्वीकार करो ।

व्याख्या—नचिकेता की ज्ञानग्राही शक्ति को देखकर यम अत्यधिक प्रसन्न हुआ और नचिकेता को एक और वर अपनी ओर से प्रदान करते हुए कहा कि "संसार में यह अग्नि तुम्हारे ही [नचिकेता नाम से] नाम से प्रसिद्ध होगी" । [इस भांति नचिकेता नाम को अमरता प्राप्त हुई] इसके अनन्तर यम ने नचिकेता को सुन्दर अनेक रंगों वाली माला भी दी । वस्तुतः यह माला न तो रत्नों की ही माला है और न फूलों आदि की ही । यह तो बुद्धि में रहने वाली ज्ञानाग्नि के साथ रहने वाली, तत्व–ज्ञान परम्परा को अबाधित गति से स्थिर रखने वाली एवं अनेक प्रकार फलों को प्रदान करने वाली ज्ञान की माला ही है । इस ज्ञान माला को नचिकेता ने धारण किया । इसके अनन्तर यम ने नचिकेता को शान्ति का मार्ग बतलाते हुए कहा :—

[**शां०**—तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्मात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूय पुनः प्रयच्छामि । तवैव नाचिकेतसो नाम्ना विधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुवित्यर्थः ॥१६॥]

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ।। १७ ।।

पद०—त्रिणाचिकेतः । त्रिभिः । एत्य । सन्धिम् । त्रिकर्मकृत् । तरति । जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञम् । देवम् । ईड्यम् । विदित्वा । निचाय्य । इमाम् । शान्तिम् । अत्यन्तम् । एति ।

त्रिणाचिकेतः—त्रिः कृत्वा नाचिकेता अग्निः चितः येन सः त्रिणाचिकेतः ।

त्रिभिः सह सन्धि एत्य—मातृपित्राचार्यैः सह वेदस्मृति-शिष्टैर्वा, प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा सन्धि सन्धानं एत्य प्राप्य ।

त्रिकर्मकृत्—यज्ञाध्ययनदानानां कर्त्ता ।

ब्रह्मजज्ञम्—ब्रह्मणः जातः समुत्पन्नः इति ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चैति ब्रह्मजज्ञः, सर्वज्ञो ह्यसौ ।

(त्रिणाचिकेताः) जिसने 'नाचिकेत' नामक अग्नि का तीनवार चयन अथवा आराधना की हो अथवा जिसने उक्त अग्नि-विद्याका भलीभाँति अध्ययन किया हो, ऐसा पुरुष (त्रिभिः) माता, पिता, आचार्य के साथ (सन्धि) सम्बन्ध को (एत्य) प्राप्त करके अर्थात् इन तीन से शिक्षा अथवा उपदेश को प्राप्त कर [अथवा (त्रिभिः) वेद, स्मृति और शिष्टजनों के उपदेशों के आधार पर अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द प्रमाण) के आधार पर अपने चित्त की शुद्धि अथवा निर्मलता को प्राप्त कर] (त्रिकर्मकृत्) यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीनों कर्मों का करने वाला होकर (जन्ममृत्यू) जन्म और मृत्यु के बन्धन से [अर्थात् संसार में आवागमन के चक्कर से] (तरति) पार हो जाता है अर्थात् उसे बार-बार संसार में जन्म लेने एवं मृत्यु के कष्ट को बार-बार भोगने की आवश्यकता नहीं रहती है। संसार के दुःखों एवं कष्टों से वह छूट जाता है। और इस प्रकार (ब्रह्मजज्ञं) वेद [ब्रह्मज्ञान] के द्वारा जाना जाने योग्य, (ईड्यं) स्तुति करने योग्य, (देवं) उस परमात्मा को

(विदित्वा) जान कर और तदनन्तर (निचाय्य) विचार कर अर्थात् उस ब्रह्म-ज्ञान के बारे में भलीभाँति मनन और निदिध्यासन करने के पश्चात् (इमां) इस (अत्यन्तं) अतिशय अथवा महान् (शान्ति) शान्ति को (एति) प्राप्त कर लेता है अर्थात् उस व्यक्ति की सांसारिक भोगों से निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—इस बुद्धि में रहनेवाले अग्नि को (ज्ञानाग्नि को) जिसने प्रतिदिन तीन बार प्रज्वलित किया है, अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन तीनों वेदों के द्वारा जिसने अपनी बुद्धि में रहनेवाले ज्ञानरूप अग्नि को प्रदीप्त किया है। [वेदों में तीन प्रकार की विद्याओं का वर्णन है—ज्ञान, कर्म और उपासना। ज्ञान का वर्णन ऋग्वेद में, कर्मकाण्ड का वर्णन यजुर्वेद में और उपासना का वर्णन सामवेद में किया गया है और चतुर्थ वेद अथर्ववेद में तीनों का मिश्रित वर्णन उपलब्ध होता है (इसी आधार पर वेदों को वेदत्रयी शब्द से भी कहा जाता है।)—इस आधार पर उपर्युक्त बात इस भाँति स्पष्ट हो जाती है कि जिन्होंने ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों के द्वारा अपनी ज्ञानरूप अग्नि को प्रदीप्त किया है अर्थात् ज्ञान, कर्म, उपासना द्वारा अपने जीवन को उन्नत कर जो सांसारिक माया, मोह के बन्धन से पृथक् हो चुका है और इस भाँति जिसका सांसारिक अज्ञान से तनिक भी सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रह गया है, ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से शान्ति प्राप्त कर लेता है। [तथा माता पिता, आचार्य—द्वारा जिन्होंने शिक्षा को प्राप्तकर अपने ज्ञान की वृद्धि की है "मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद" इत्यादि श्रुति के प्रमाण से भी इस बात की पुष्टि होती है। मनुष्य की सर्वप्रथम गुरु माता ही होती है तदनन्तर पिता और उसके पश्चात् वह आचार्य द्वारा सब कुछ सीखा करता है। अथवा उपर्युक्त गुरुओं द्वारा ज्ञान का श्रवण करके तदन्तर उनका मनन और निदिध्यासन् (ध्यान) करके मानव अपने को भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उसे संसार के प्रति, अपने इष्ट बन्धु-बान्धवों के प्रति कोई किसी प्रकार का लोभ-मोह, स्नेह आदि शेष नहीं रह जाता। उसकी स्थिति जीवन्मुक्त जैसी हो जाती है फिर वह अपने शरीर का भी चिन्तन नहीं करता है, भूख, प्यास, सुख, दुःख आदि किसी प्रकार की भावना उसके हृदय में उत्पन्न हो

नहीं होती है। ऐसी स्थिति में वह भगवान् के आनन्द की अनुभूति अवश्य करने लगता है अतः यह कहा जाय कि ऐसा व्यक्ति महान् शान्ति को प्राप्त कर लेता है, ठीक ही है। जो चिन्ताशून्य है उसे शान्ति का प्राप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। और जो त्रिकर्म अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और दानरूप कर्मों को करता हुआ अपना जीवन-यापन किया करता है वह व्यक्ति जन्म और मृत्यु (संसार में उत्पन्न होना और मर जाना आदि) के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लिया करता[1] है और फिर ऐसा पुरुष ब्रह्म से उत्पन्न (ब्रह्मज = वेद) ज्ञान के द्वारा जाना जाने योग्य (ज्ञेय), स्तुति करने योग्य उस परब्रह्म परमात्मा को जानकर एवं उसका अनुभव करके महान् शान्ति भी प्राप्त कर लिया करता है।

उक्त मन्त्र में ज्ञान एवं कर्म दोनों का ही वर्णन किया गया और दोनों के द्वारा स्वर्गसुख की प्राप्ति का भी वर्णन किया गया।

अब उपर्युक्त अग्नि विज्ञान तथा अग्निचयन का फल वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—

[शां०—त्रिणाचिकेतस्त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धि सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तराद् अवगम्यते यथा "मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्" (बृ० उ० ४ । १ । २) इत्यादेः । वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं

---

१. इसी बात का भगवान् कृष्ण ने भी गीता में उपदेश देते हुए अर्जुन से कहा-

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥गीता १८।५-६॥

स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिमत्यन्तत्यतिशयेनेति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ।।१७।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१८।।

पद०—त्रिणाचिकेतः । त्रयम् । एतत् । विदित्वा । यः । एवम् । विद्वान् । चिनुते । नाचिकेतम् । सः । मृत्युपाशान् । पुरतः । प्रणोद्य । शोकातिगः । मोदते । स्वर्गलोके ।

(यः) जो (त्रिणाचिकेतः) तीन बार 'नाचिकेत' अग्नि का चयन करने वाला (विद्वान्) ज्ञानवान् पुरुष (एतत् त्रयं) इन तीन प्रकारों को [पूर्वोक्त (१) इष्टका का स्वरूप, (२) उनकी संख्या तथा उनकी (३) संग्रह प्रणाली को जानकर अग्नि को आत्मस्वरूप में जानकर उसका अनुष्ठान करने वाला है] (विदित्वा) जानकर (एवं) इस प्रकार से (नाचिकेतं) नाचिकेत नामक अग्नि का (चिनुते) चयन अथवा अनुष्ठान करता है (सः) वह (पुरतः) शरीरान्त अथवा शरीर-त्याग से पूर्व ही(मृत्युपाशान्) अधर्म, अज्ञान और रागद्वेषादिरूप मृत्यु के जाल-समूह को (प्रणोद्य) नष्ट करके (शोकातिगः) मानस दुःखरूप शोक से रहित होकर (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) आनन्द प्राप्त किया करता है ।

व्याख्या—जो पुरुष माता, पिता और आचार्य इन तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त कर उक्त तीनों प्रकार के कर्मों को यथाविधि करता हुआ प्रतिदिन तीन बार अग्नि का चयन करने वाला है वह पुरुष शरीरत्याग से पूर्व ही मृत्यु के बन्धनों को तोड़कर [उनसे छुटकारा प्राप्त कर] जीवनमुक्ति के सुख को भोगा करता है ।

इस अवस्था का नाम ही 'जीवन्मुक्तावस्था' है । इसमें मनुष्य सशरीर रहते हुए स्वर्गीय सुख की उपलब्धि किया करता है । वह जीवन्मुक्त कहलाता

है अर्थात् उसे संसार की किसी भी वस्तु तथा सम्बन्धी आदि के प्रति राग-द्वेषादि नहीं रहता है, यहाँ तक कि उसे अपने शरीर के प्रति भी किसी प्रकार की कोई लिप्सा, चिन्ता आदि नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में वह सुख का ही भोग किया करता है। वह सशरीर होने के कारण शारीरिक दुःखों अथवा कष्टों के होने पर भी उनका अनुभव नहीं किया करता है।

अब उक्त द्वितीय वर का उपसंहार करते हुए यमाचार्य नचिकेता से कह रहे हैं :—

[शां०—इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानराग-द्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूप-प्रतिपत्त्या ॥१८॥]

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

पद०—एष । ते । अग्निः । नचिकेतः । स्वर्ग्यः । यम् । अवृणीथाः । द्वितीयेन । वरेण । एवम् । अग्निम् । तव । एव । प्रवक्ष्यन्ति । जनासः । तृतीयम् । वरम् । नचिकेतः । वृणीष्व ।

(हे नचिकेतः) हे नचिकेता ! (ते) तुम्हारे लिये (एषः) इस (स्वर्ग्यः) स्वर्ग की साधनभूत (अग्निः) अग्निका उपदेश किया गया। (यं) जिसके बारे में (द्वितीयेन वरेण) द्वितीय वर के द्वारा (अवृणीथाः) तुमने मुझसे याचना की थी। (जनासः) मनुष्य (एतं) इस (अग्निं) अग्नि की (तव एव) तुम्हारे ही नाम से (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे अर्थात् व्यवहार में प्रयोग करेंगे। अतः अब तुम (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (तृतीयं) तीसरे (वरं) वर को (वृणीष्व) माँगो या माँग लो।

व्याख्या—हे नचिकेता ! स्वर्ग की साधनभूत अग्नि [ज्ञानाग्नि] का उपदेश तुमको दिया गया जिसकी याचना तुमने अपने अग्नि-विज्ञान-विषयक द्वितीय वर के द्वारा की थी। इस वैदिक यज्ञाग्नि [स्वर्गकामो यजेत] को लोग तुम्हारे ही नाम से संसार में पुकारेंगे। अतः अब हे नचिकेता ! तुम अपने तृतीय वर की याचना मुझसे कर लो।

यमाचार्य द्वारा नचिकेता को पितृ-परितोष विषयक प्रथम वर तथा स्वर्ग-प्राप्ति की साधन-भूत-अग्नि विषयक द्वितीय वर प्रदान किया जा चुका है। द्वितीय वर के देने के साथ ही उन्होंने एक और वर नचिकेता को अपनी ही ओर से प्रदान कर दिया था—वह यह—कि "यह अग्नि नचिकेता के ही नाम से संसार में प्रसिद्ध होगी।" अतः नचिकेता को कहीं यह भ्रम न हो जाय कि इस प्रकार मैं तीनों वर प्राप्त. कर चुका हूँ—इसी सन्देह के निवारणार्थ यमाचार्य ने उपयुक्त श्लोक में स्पष्ट करते हुए कहा है कि "तृतीयं बरं नचिकेतो वृणीष्व"।

संसार में रहते हुए मनुष्य की प्रधानरूप से दो प्रकार की इच्छायें हुआ करती हैं (१) इहलौकिक=इस लोक अथवा संसार से सम्बन्ध रखनेवाली इच्छायें। (२) पारलौकिक=अर्थात् परलोक की प्राप्तिविषयक इच्छायें। कठोपनिषद् के आख्यान के आधार पर परलोक के अन्तर्गत् स्वर्गलोक तथा आनन्दलोक आ जाते हैं। यज्ञादि कर्मों के द्वारा स्वर्गलोक अथवा देवलोक की प्राप्ति की जा सकती है तथा ब्रह्मज्ञान के द्वारा आनन्दलोक की।

जीवात्मा सत् (अस्तित्व वाला) तथा चित् (चैतन्यस्वरूप) है। परमात्मा सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है (इसी कारण उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया है)। इस प्रकार जीवात्मा में परमात्मा की अपेक्षा आनन्द की ही कमी है। भगवान् के इस आनन्द की अनुभूति करना ही जीवात्मा का प्रधान लक्ष्य है। मानव-शरीर में निवास करते हुए जीवात्मा इसी आनन्द की उपलब्धि के निमित्त साधनभूत ब्रह्मविद्या का अध्ययन करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा करता है। भगवान् के इस आनन्द को प्राप्त कर जीवात्मा भी तद्रूप हो जाता है। इसी का नाम आनन्द-लोक की प्राप्ति है। दूसरे शब्दों में इसी को परमपद, मुक्ति अथवा मोक्ष कहा गया है।

नचिकेता का प्रथम वर (पितृ-परितोष विषयक) इहलौकिक है । द्वितीय वर परलोक—अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधनभूत अग्निविज्ञान के सम्बन्ध में है और तृतीय वर परलोक—आनन्दलोक की प्राप्तिविषयक है। इस भाँति द्वितीय तथा तृतीय दोनों ही वर परलोक विषयक हैं। दोनों की प्राप्ति में अन्तर केवल यही है कि यज्ञादि-कर्मजन्य-स्वर्गलोक में जीवात्मा शोक आदि से रहित होकर परमसुख की अनुभूति किया करता है तथा परम-धाम (मुक्तावस्था) में वह परमात्मा के 'आनन्द' की अनुभूति किया करता है।

उस आनन्द की अनुभूति का एकमात्र साधन आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान की उपलब्धि करना ही है। (इसी ज्ञान को दूसरे शब्दों में ब्रह्मविधा अथवा ब्रह्मज्ञान कहा गया है।) जन्म-मृत्यु अथवा आवागमन के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है इस छुटकारे की प्राप्ति के अनन्तर ही जीवात्मा को परमात्मा के उपर्युक्त आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। अतः उक्त आनन्द की प्राप्ति विषयक आत्मज्ञान-सम्बन्धी वर की याचना नचिकेता द्वारा इस तृतीय वर में की गई है। वह कहता है :—

(शां०—एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्न प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत्। एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रांयः ॥१९॥]

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽ-
स्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

पद०—या। इयं। प्रेते। विचिकित्सा। मनुष्ये। अस्ति। इति। एके। न। अयम्। अस्ति। इति। च एके। एतत्। विद्याम्। अनुशिष्टः। त्वया। अहम्। वराणाम्। एषः। वरः। तृतीयः।

(मनुष्ये) प्राणिमात्र के (प्रेते) मर जाने पर (या) सर्वजन विदित जो (इयं) यह (विचिकित्सा) संशय अथवा संदेह किया जाता है कि (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) है [अर्थात् मरने के पश्चात् भी आत्मा की स्थिति अथवा अस्तित्व रहा करता है] (इति एके) ऐसा कुछ व्यक्ति मानते हैं । (च) और (अयन् न अस्ति) इस आत्मा का मरने के अनन्तर कोई अस्तित्व नहीं रहता है (एके) ऐसा कुछ व्यक्ति मानते हैं । (त्वया) आपके द्वारा (अनुशिष्टः) उपदेश दिया गया हुआ (अहं) मैं (एतत्) इस आत्म-ज्ञान को (विद्याम्) जानूँ या जान लूँ, (वराणां) वरों में से (एषः) यही (तृतीयः) मेरा तीसरा (वरः) वर है ।

व्याख्य—'मरने के पश्चात् आत्मा रहता है । ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं । दूसरे विचारकों का कहना है कि मरने के पश्चात् कुछ भी नहीं रहता अर्थात् देहादि से पृथक् आत्मा की कोई सत्ता नहीं है । इसमें वास्तविकता क्या है ?' सत्य क्या है ? इसका उपदेश मुझे दीजिये । यही नचिकेता ने तृतीय वर में माँगा है । तात्पर्य यह है शरीर के नष्ट होने से आत्मा का विनाश होता है वा नहीं ? अथवा शरीर ही सब कुछ है, आत्मा आदि कुछ नहीं है ।

गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान् कृष्ण ने यही समझाया है कि यह आत्मा मरने के पश्चात् भी रहता है, वह नष्ट नहीं होता, वह अवध्य है इत्यादि । इस उपदेश से स्पष्ट है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है । इसी प्रकार अन्य अनेक प्रमाणों द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

किन्तु चार्वाक मत के आचार्य बृहस्पति का यह सिद्धान्त है कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है । शरीर ही सब कुछ है । उनका कथन :—

> यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

इसी प्रकार के कुछ अन्य विचारकों का भी उपर्युक्त कथन है ।

नचिकेता ने दोनों ही प्रकार की उपर्युक्त विचारधाराओं का श्रवण किया होगा । अतः उसकी जिज्ञासा है कि वस्तुतः इसमें सत्यता क्या है । भाग्य से वह एक ऐसे गुरु के समीप पहुँच [illegible] है कि जहाँ यह प्रश्न सरलता-

पूर्वक सुलझाया भी जा सकता है। मृत्यु (यमाचार्य) का सम्बन्ध विशेष-रूप से इस विषय से है क्योंकि वह 'मरण' का देवता है। अतः नचिकेता को विश्वास है कि वह वस्तुतत्त्व को अवश्य ही जानता होगा। इसी कारण उसने तृतीय वर में मरणानन्तर आत्मा के अस्तित्व के बारे में प्रश्न किया है।

नचिकेता द्वारा आत्मा के अस्तित्व के बारे में जो वर माँगा गया है उसका स्पष्ट भाव आत्म-ज्ञान की प्राप्ति करना ही है। वह आत्म-तत्व के वास्तविक स्वरूप और तद्विषयक ज्ञान को आचार्य यम से प्राप्त करने का इच्छुक था। अत एव इसी मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए उसने तृतीय-वर याचना की है।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर न देकर यमाचार्य प्रकारान्तर से नचिकेता को समझाते हुए कहते हैं:—

[शां०—एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु। न आत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसार-बीजस्यनिवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारफलाध्यारोपलक्षण-शून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमिति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति--यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्य आत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते। नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्धात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया वराणाम् एष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः।।२०।।]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा

न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व

मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।। २१ ।।

पद०—देवैः । अत्र । अपि । विचिकित्सितम् । पुरा । नहि । सुविज्ञेयम् । अणुः । एषः धर्मः । अन्यम् । वरम् । नचिकेतः । वृणीष्व । मा । मा । उपरोत्सीः । अति । मा सृज । एनम् ॥

(पुरा) पहले (देवैः अपि) देवताओं ने भी (अत्र) इस आत्मा के विषय में (विचिकित्सितम्) संशय किया था । (हि) निश्चित रूप से (एषः धर्मः) यह आत्मज्ञान का विषय (अणुः) अति सूक्ष्म है, अतएव (सुज्ञेयं, न) सरलतापूर्वक जाना जाने योग्य नहीं है अर्थात् इसका जानना सरल नहीं है । (नचिकेतः) हे नचिकेता (अन्यं) दूसरे (वरं) वर को (वृणीष्व) माँग लो । (मां = मां) मुझसे (मा, उपरोत्सीः) इसी वर के माँगने का आग्रह न करो । (मा) मेरे प्रति (एवं) इस वर को (अति सृज) छोड़ दो ।

व्याख्या—यम ने कहा—हे नचिकेता ! प्राचीनकाल में भी अनेक ज्ञानियों ने इस विषय को जानने का प्रयास किया था । पर वे इसको नहीं जान सके—

नैनद्देवा आप्नुवन् ।। ईश–उप०—४ ।।

देवगण भी इसको प्राप्त नहीं कर सके । यह ईशोपनिषद् का कथन है। केन उपनिषद् में भी ऐसा आता है कि "आत्मा को देव नहीं जान सके" । जो देवताओं को ही नहीं प्राप्त हो सका, उस आत्मा के वारे में हे नचिकेता ! तुम सरलतापूर्वक कैसे समझ सकते हो । अतः तुम मुझसे इस वर को माँगने का हठ न करो, किसी दूसरे वर को माँग लो ।

वस्तुतः नचिकेता भगवान् के आनन्द की अनुभूति करने का अथवा मोक्ष का साधनभूत आत्मज्ञान का अधिकारी भी है अथवा नहीं ? इसको जानने की दृष्टि से यम ने उपर्युक्त वचन कहे हैं ।

आत्म-ज्ञान सम्बन्धी कठिनता की बात सुनकर नचिकेता तनिक भी घबराता नहीं है और न उसका आत्मज्ञान-प्राप्ति सम्बन्धी उत्साह ही समाप्त हो जाता है अतः वह बड़ी दृढ़ता के साथ पुनः उसी (पूर्वोक्त) वर की याचना करता हुआ कहता है :—

[शां०—कमियमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्टु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां योषरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ।। २१ ।।]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।। २२ ।।

पद०—देवैः । अत्र । अपि । विचिकित्सितम् । किल । त्वम् । च मृत्यो । यत् । न । सुविज्ञेयम् । आत्थ । वक्ता । च । अस्य । त्वादृक् । अन्यः । न । लभ्यः । न । अन्यः । वरः । तुल्यः । एतस्य । कश्चित ।

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (अत्र) इस विषय में [आत्मज्ञान के बारे में] (त्वं) आपने (यत्) जो (आत्थ) यह कहा कि (किल) निश्चित रूप से (देवैः अपि) देवताओं ने भी पहले इस विषय में (विचिकित्सितम्) संशय अथवा विचार किया था [किन्तु वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके] (च) और यह (न सुज्ञेयम्) सरलतापूर्वक जाना जाने योग्य नहीं है। (च) इसके अतिरिक्त (अस्य) इस आत्मज्ञान का (वक्ता) कथन करने वाला भी (त्वादृक्) आपके समान (अन्यः) दूसरा (न, लभ्यः) नहीं मिल सकता है। तथा (एतस्य) इसके (तुल्यः) समान (कश्चित्) कोई (अन्य) दूसरा (वरः) वर भी (न) नहीं है, [जो मैं आप से माँग लूँ]।

व्याख्या—हे यमाचार्य ! आपने यह कहा कि "पूर्वकाल में इस आत्मज्ञान के विषय पर देवताओं ने भी विचार-विनिमय किया था तथा वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके थे। यह विषय अति कठिन तथा सूक्ष्म है।" आपके तर्क्युक्त कथन से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण विषय है। मैं भी इस बात को भलीभाँति समझता हूँ कि इस

विषय का समझाने वाला आप जैसा कोई दूसरा व्यक्ति ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता है। फिर मैं इस वर को छोड़कर दूसरे वर की याचना क्यों करू? अतः मेरी दृष्टि में इसकी तुलना में आने वाला कोई दूसरा बर है ही नहीं। अतः आप कृपाकर मुझे इसी (उक्त) विषय का उपदेश दीजिये, यही मेरी आपसे प्रार्थना है।

इस भाँति मृत्यु ने देखा कि नचिकेता अपनी बात पर दृढ़ है, वह तनिक भी आत्मज्ञान सम्बन्धी कठिनता से घबराया नहीं है। अतः इस एक परीक्षा में तो वह उत्तीर्ण हो ही गया है। अतः अब इसके दूसरे प्रकार की परीक्षा लेनी चाहिये। यह सोचकर उन्होंने उसके समक्ष विभिन्न प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों को उपस्थित करते हुये बहुत कुछ कहा :—

[शां०—देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम्। त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्य-वेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि। अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः। अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ।। २२ ।।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।२३।।

पद०—शतायुष.। पुत्रपौत्रान्। वृणीष्व। बहुन्। पशून्। हस्ति-हिरण्यम्। अश्वान्। भूमेः। महत्। आयतनम्। वृणीष्व। स्वयं। च। जीव। शरदः। यावत्। इच्छसि।

(शतायुषः) सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करने वाले (पुत्र-पौत्रान्) पुत्र तथा पौत्रों को (वृणीध्व) माँग लो और (बहून्) बहुत से (पशून्) गौ इत्यादि पशुओं को, (हस्ति-हिरण्यम्) हाथी, सुवर्ण और (अश्वान्) घोड़ों को (वृणीध्व) माँग लो (भूमेः) पृथ्वी के (महत्) बड़े (आयतनं) मण्डल [साम्राज्य] को (वृणीध्व) माँग लो। (स्वयं च)

स्वयं भी (यावत् शरदः) जितने वर्षों तक (इच्छसि) जीवित रहने की इच्छा हो (जीव) जीवित बने रहो।

व्याख्या—हे नचिकेता ! तुम आत्मज्ञान-सम्बन्धी वर माँग कर क्या करोगे ? तुम सौ-सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रादिकों से युक्त बड़े परिवार को माँग लो। गौ इत्यादि जीवन में अत्युपयोगी पशु, हाथी, घोड़े, सुवर्ण तथा पृथ्वी का विशाल साम्राज्य माँग लो। तथा इन सब पदार्थों के उपभोग के निमित्त जितने वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करो, उतने समय तक जीवित बने रहो।

वास्तव में आत्मज्ञान की प्राप्ति उसी को हो सकती है कि जो सर्वोत्तम पर-वैराग्य का अधिकारी हो। जब विषयों में दोष दिखलाई पड़ने लगें तब वह मध्यम वैराग्य कहलाता है। जब विषय-भोग में दुःख का अनुभव होने लगा करता है, तब वह उत्तम वैराग्य कहलाता है। तथा जब विषय-भोग में पूर्ण अरुचि हो जाया करती है तब वह अधिमात्र-वैराग्य कहलाता है। जब विषय के अस्तित्व का ही लोप मन से हो जाया करता है तब यह स्थिति पर-वैराग्य की स्थिति समझी जाती है। पर वैराग्य की स्थिति वाले व्यक्ति को ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। अतः यमाचार्य को नचिकेता की वैराग्य-सम्बन्धी परीक्षा लेना भी आवश्यक ही था। इस परीक्षा द्वारा नचिकेता आत्मज्ञान का अधिकारी है वा नहीं, इसका निर्णय हो जायगा। इसी कारण यम नचिकेता को नाना प्रकार के सांसारिक उपभोग्य पदार्थों के भोग करने के लिये अनेक प्रकार से प्रलोभन दे रहे हैं :—

[**शां०**—एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—शतायुषः, शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। किं च गवादिलक्षणान् बहून् पशून् हस्तिहिरण्यं हस्तीं च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व। किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥२३]

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं

वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामनां त्वा कामभाजं करोमि ।२४।।

पद०—एतत् । तुल्यम् । यदि । मन्यसे । वरं । वृणीष्व । वित्तं । चिर-जीविकां । च । महाभूमौ । नचिकेतः । त्वम् । एधि । कामानाम् । त्वा । काम-भाजम् । करोमि ।

(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (वित्तम्) धन, सम्पत्ति और (चिरजी-विकाम्) अनन्तकाल तक जीने के साधनों को (यदि, त्वम्) यदि तुम (एतत) इस आत्मज्ञान-विषयक वर (तुल्यम्) के समान (वरं) वर (मन्यसे) मानते हो तो (वृणीष्व) माँग लो । (च) और (महाभूमौ) तुम इस पृथ्वी लोक में (एधि) [महान् साम्राज्य को] प्राप्त कर लो । (त्वा) तुमको [मैं] (कामनाम्) सम्पूर्ण इच्छाओं का (कामभाजम्) इच्छानुकूल भोग करने वाला (करोमि) करता हूँ अथवा बना देता हूँ ।

व्याख्या—हे नचिकेता ! यदि तुम असीम धन-सम्पत्ति, दीर्घ-जीवन के निमित्त उपयोगी सुख के साधन अथवा जितने भी प्रकार के भोग मानव द्वारा भोगे जा सकते हैं, उन सब को एकत्रित कर उस आत्म-ज्ञान विषयक वर के समान समझते हो तो इन सबकी याचना मुझ से कर लो । यदि इन सबसे बढ़ कर सार्वभौम राज्य करने की इच्छा हो तो मैं उसे भी तेरे लिए दे सकता हूँ । यदि चाहो तो मैं तुमको समस्त भोगों को इच्छानुसार भोगने वाला बनाये देता हूँ ।

जब इतने अधिक प्रलोभन देने पर भी नचिकेता पर उसका कोई प्रभाव होते नहीं देखा तब यमाचार्य ने उसे स्वर्गीय देवताओं से सम्बन्धित योग्य पदार्थों का प्रलोभन देते हुये पुनः कहा :—

[**शां०**—एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व । किं च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव । किं चान्य त्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ।।२४।।]

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

पद०—ये । ये । कामाः । दुर्लभाः । मर्त्यलोके । सर्वान् । कामान् । छन्दतः। प्रार्थयस्व। इमाः । रामाः । सरथाः । सतूर्याः । नहि । ईदृशाः । लम्भनीयाः । मनुष्यैः । आभिः । मत्प्रत्ताभिः । परिचारयस्व । नचिकेतः । मरणम् । मा । अनुप्राक्षीः ।

(मर्त्यलोके) इस मनुष्य लोक में (ये, ये) जो-जो (कामाः) कामनायें अथवा भोग (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं उन (सर्वान्) सम्पूर्ण (कामान्) कामनाओं अथवा भोगों को (छन्दतः) स्वेच्छापूर्वक (प्रार्थयस्व) माँग लो। (सरथाः, सतूर्याः) रथ एवं नाना प्रकार के बाजों से युक्त इमाः) इन (रामाः) स्वर्ग की अप्सराओं को [भी प्राप्त कर लो], (मनुष्यैः) मनुष्यों के द्वारा (ईदृशाः) इस प्रकार की स्त्रियाँ (नहि लम्भनीयाः) प्राप्त किया जाना संभव नहीं है [अर्थात् अप्राप्य हैं ।] (मत्प्रत्ताभिः) मेरे द्वारा दी गई हुई (आभिः) इन स्त्रियों से (परिचारयस्व) तुम अपनी सेवा कराओ, किन्तु (नचिकेतः) हे नचिकेता! (मरणम्) मरने के पश्चात् आत्मा का क्या होता है इस बात को (मा, अनुप्राक्षीः) मत पूछो ।

व्याख्या—हे नचिकेता ! इस मनुष्यलोक में जिन जिन-भोग्य पदार्थों का प्राप्त होना अति कठिन है, उन सबकी भी याचना तुम मुझ से इच्छानुसार कर लो । नाना प्रकार के वाद्यों से युक्त एवं रथों से युक्त जो स्वर्ग की सुन्दर अप्सरायें हैं, जो कि इस लोक में कहीं भी नहीं मिल सकती हैं, जिनके लिए ऋषि-मुनि भी हताश रहा करते हैं, यदि चाहो तो मैं उन्हें भी तुमको प्रदान कर सकता हूँ इन्हें ले जाकर तुम अपनी इच्छानुसार उनसे सेवा कराओ। किन्तु हे नचिकेता ! तुम आत्म-तत्त्व विषयक वर की याचना मुझसे न करो ।

यमाचार्य ने सर्वप्रथम नचिकेता के समक्ष आत्म-ज्ञान सम्बन्धी कठिनता का वर्णन किया। तदनन्तर इस लोक से सम्बन्धित उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों के प्रलोभन भी दिये। किन्तु उन्होंने जब यह देखा कि इन लौकिक प्रलोभनों का उस पर कोई प्रभाव नहीं, तब उन्होंने उसके समक्ष देवलोक से सम्बन्धित भोग्य पदार्थों को भी प्रस्तुत किया। किन्तु नचिकेता जानता था कि इस लोक और स्वर्गलोक के महान् से महान् भोग्य पदार्थों से उत्पन्न सुख की तुलना आत्म-ज्ञान से उत्पन्न होने वाले सुख के किसी अंश से भी नहीं की जा सकती है। अतः वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। और अपने निश्चय को युक्तिपूर्ण ढंग से यमाचार्य के समक्ष रखा —

[शां० — ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व। किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण। आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः। नचिकेतो मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि॥ २५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

पद० — श्वोभावाः। मर्त्यस्य। यत्। अन्तक। एतत्। सर्वेन्द्रियाणाम्। जरयन्ति। तेजः। अपि। सर्वम्। जीवितम्। अल्पम्। एव। तव। एव। वाहाः। तव। नृत्यगीते।

(अन्तक) हे यमराज! (श्वोभावाः) कल तक स्थित रहने वाले अर्थात् ये क्षणभंगुर भोग्य पदार्थ [जिनका वर्णन अभी आप कर चुके हैं।] (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सम्पूर्ण इन्द्रियों का (यत् तेजः) जो तेज है (एतत्) उसको (जरयन्ति) क्षीण कर डालते हैं। और (सर्वं) सम्पूर्ण

(जीवितम्) जीवन (अपि) भी (अल्पम् एव) अल्प ही है। अतः (तब) तुम्हारे [आपके] (वाहाः) रथ, हाथी आदि वाहन और (नृत्यगीते) ये अप्सराओं के नृत्य, गान आदि (तव एव) आपके ही पास रहें। मुझे इनकी आवश्यकता नहीं।

व्याख्या—हे सबका अन्त करने में समर्थ यमाचार्य ! आपने जिन भोग्य-पदार्थों की महिमा गाई है, वे सभी पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं। उनका अस्तित्व कल तक भी रहेगा अथवा नहीं ? यह संदेहास्पद है। इनके संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है। वस्तुतः वह दुःख ही है। गीता में भी इसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ गीता ५।२२ ॥

और ये अप्सरा आदि भोग्य पदार्थ मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट एवं क्षीण कर देने वाले हैं। आपने जो दीर्घ जीवन देने की बात कही है वह भी अनन्त-काल की दृष्टि में कम ही है। अतः मुझे इन सब वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है। ये सम्पूर्ण वस्तुयें आप अपने ही पास रखें।

नचिकेता के कहने का तात्पर्य यह है कि उसे ऐहलौकिक अथवा मृत्युलोक सम्बन्धी तथा पारलौकिक अथवा स्वर्गलोक अथवा देवलोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार के सुख की प्राप्ति की इच्छा नहीं है क्योंकि वह जानता है कि ये सभी प्रकार के सुख क्षणभंगुर अथवा नाशवान् हैं। तथा सब प्रकार के वैषयिक सुख सब इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देने वाले हैं। इन्द्रियाँ जितना-जितना विषयभोगों में रत रहती हैं, उतना ही उनके तेज का ह्रास होता जाता है तथा उससे क्रमशः आत्म-बल का भी नाश होता जाता है। परिणाम यह होता है कि उसको आवागमन (जन्म और मृत्यु) के बन्धन में बँधा रहना पड़ा करता है। अतः नचिकेता यमाचार्य से प्रार्थना करता हुआ यही निवेदन करता है कि प्रभो ! इन सम्पूर्ण इन्द्रिय-सुखोत्पादक भोग्य पदार्थों को आप अपने ही पास रखिये। हमें किसी भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। आप हमको आत्मज्ञान का ही उपदेश दीजिये। इसी भावना के साथ वह पुनः कहता है

[**शां०**—एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—श्वो भविष्यन्ति न भाविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद्ब्रह्मणेऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका। अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

पद०—न। वित्तेन। तर्पणीयः। मनुष्यः। लप्स्यामहे। वित्तम्। अद्राक्ष्म। चेत्। त्वा। जीविष्यामः। यावत्। ईशिष्यसि। त्वम्। वरः। तु। मे। वरणीयः। सः। एव।

(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तेन) धन से (तर्पणीयः न) कमी भी तृप्त नहीं हो सकता है। (चेत्) यदि [हमने] (त्वा) आपके (अद्राक्ष्म) दर्शन हमको प्राप्त हो गये हैं तो (वित्तम्) धन को (लप्स्यामहे) तो प्राप्त कर ही लेंगे और (त्वम्) आप (यावत्) जिस समय तक (ईशिष्यसि) यमपुरी का शासन करते रहेंगे अथवा जब तक यम-पद के स्वामी बने रहेंगे तब तक (जीविष्यामः) हम जीते ही रहेंगे। अतः (मे) मेरे द्वारा (वरणीयः) माँगने योग्य (वरः तु) वर तो (सः) वह [आत्म-ज्ञान-संबन्धी] (एव) ही है।

व्याख्या—वस्तुतः धन के द्वारा मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं हो सकती है वह तो सदैव ९९ के चक्कर में फँसा ही रहा करता है। जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि और भी अधिक तीव्रता को ही धारण करती है, उसी भाँति धन एवं भोग्य पदार्थों की प्राप्ति से धन एवं भोग-सम्बन्धी इच्छाओं का विस्तार हो होता जाता है। फिर ऐसी स्थिति में तृप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं

होता। अतः ऐसी स्थिति में मानव रात-दिन अपूर्णता एवं अभाव के चक्कर में ही फँसा रहा करता है। फिर ऐसा कौन विद्वान् पुरुष होगा कि जो ऐसे दुःखपूर्ण धन एवं भोग्य पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करेगा। अपने जीवन निर्वाह के निमित्त जितने धन की आवश्यकता मुझे होगी उतना तो आपके दर्शन मात्र से ही मुझे प्राप्त हो जायगा। दीर्घ-जीवन-सम्बन्धी बात भी आपकी कृपा से प्राप्त हो ही सकती है क्योंकि यह तो आपके अधिकार की वस्तु है। अतः मैं किसी भी दशा में अन्य वर को माँगने की इच्छा नहीं करता हूँ तथा न किसी अन्य वर को इसके समान ही समझता हूँ। कृपा कर आप मुझे आत्म-ज्ञान-विषयक वर ही प्रदान कीजिये।

उपर्युक्त प्रकार से भोग्य पदार्थों की तुच्छता का वर्णन करते हुए नचिकेता पुनः कहता है :—

[**शां०**— न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। जीवितमपि तथैव। जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः। कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत्। वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम्॥ २७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ २८॥

पद०—अजीर्यताम्। अमृतानाम्। उपेत्य। जीर्यन्। मर्त्यः। कु। अधः। स्थः। प्रजानन्। अभिध्यायन्। वर्णरतिप्रमोदान्। अतिदीर्घे। जीविते। कः। रमेत।

यह मनुष्य (जीर्यन्) जरा अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त होने वाला तथा (मर्त्यः) मरणधर्मा है, (प्रजानन्) इस वास्तविकता को जानने वाला (कु) पृथिवी (अधः) के निम्न प्रदेश पर (स्थः) स्थित रहने वाला अर्थात् मर्त्यलोक-निवासी (कः) कौन [ऐसा व्यक्ति] होगा कि जो (अजीर्यताम्)

वृद्धावस्था से रहित (अमृतानाम्) मृत्यु को न प्राप्त होने वाले आप जैसे महात्माओं की (उपेत्य) सत्सङ्गति को प्राप्त करके (वर्णरतिप्रमोदान्) अप्सरा आदिकों के सौन्दर्य, प्रेम तथा अमोद-प्रमोद का (अभिध्यायन्) चिन्तन करता हुआ (अतिदीर्घे) बहुत कालपर्यन्त (जीविते) जीवित रहने के निमित्त (रमेत) चाहेगा।

व्याख्या—हे यमाचार्य ! आप कृपाकर इस बात को स्वयं सोचिये कि आप जैसे महात्मा देवताओं के दुर्लभ एवं अप्राप्य सत्संग को प्राप्तकर मृत्युलोक का जरामरणशील कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा कि जो अप्सराओं अथवा स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीडा, एवं आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उन्हीं में संलग्न रहेगा तथा बहुत कालपर्यन्त जीवित रहने की अभिलाषा करेगा।

अब नचिकेता अनित्य काम्य-फल सम्बन्धी प्रलोभनों का परित्याग कर अपने पूर्व-याचित वर की ओर यमाचार्य का ध्यान आकृष्ट करते हुए पुनः कहता है :—

[**शां०**—यतश्च, अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशनुपेत्य उपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन् उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधस्थः कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वध स्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिण्याद्यस्थिरं वृणीते ।]

क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना। तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थदुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थः सर्वोह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकः तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् किं चाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाभिध्यायन्निरूपयन्यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

पद०—यस्मिन् । इदम् । विचिकित्सन्ति । मृत्यो । यत् । साम्पराये । महति । ब्रूहि । नः । तत् । यः । अलम् । वरः । गूढम् । अनुप्रविष्टः । न । अन्यम् । तस्मात् । नचिकेताः । वृणीते ।

(मृत्यो) हे यम ! (यस्मिन्) जिस (महति) महान् (साम्पराये) आश्चर्ययुक्त परलोक-सम्बन्धी आत्मज्ञान के सम्बन्ध में (इदम्) यह (विचि-कित्सन्ति) शङ्का करते हैं [कि यह आत्मा मरने के बाद रहता है या नहीं] इस बारे में (यत्) जो निर्णय हो (तत्) वह (नः) हमको (ब्रूहि) बतलाइये । (यः) जो (अयम्) वह (गूढ़) अत्यन्त गूढ़ तथा (अनुप्रविष्टः) मेरे चित्त में प्रविष्ट (वरः) वर है (तस्मात्) उस वर से (अन्यम्) व्यतिरिक्त दूसरा वर (नचिकेताः) नचिकेता (न) नहीं (वृणीते) माँगता है ।

व्याख्या—हे यमाचार्य ! जिस आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में लोग यह सन्देह करते हैं कि मरने के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं, उसी आत्मतत्त्व-सम्बन्धी ज्ञान के बारे में आप अपना अनुभूत ज्ञान मुझे प्रदान कीजिये । यह आत्म-ज्ञान-विषयक वर अत्यन्त गूढ़ आवश्यक है, किन्तु मेरे चित्त में इसकी समता रखने वाला अन्य वर आता ही नहीं है । अतः कृपा कर आप इसी का उपदेश दीजिये, यही मेरी आप से प्रार्थना है ।

[**शां०**—अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सतं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्तद् ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्वि-वेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः । तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति ।। २९ ।।]

इति प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ।

—: ❀ :—

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयवल्ली

इस प्रकार नचिकेता की परीक्षा लेने के पश्चात् जब यमाचार्य ने यह समझ लिया कि नचिकेता वस्तुतः ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी है तब वे उसके समक्ष श्रेय (आनन्दस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति का साधन) एवं प्रेय (इस लोक एवं स्वर्गलोक के सुख-भोग की सामग्रियों की प्राप्ति का साधन) दो मार्गों (साधनों) का वर्णन करते हैं :—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

पद०—अन्यत् । श्रेयः । अन्यत् । उत । एव । प्रेयः । ते । उभे । नानार्थे । पुरुषम् । सिनीतः । तयोः । श्रेयः । आददानस्य । साधु । भवति । हीयते । अर्थात् । यः । उ । प्रेय । वृणीते ।

(श्रेयः) कल्याण का मार्ग (अन्यत्) पृथक् है (उत) और (प्रेयः) प्रिय एवं भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति का साधन (अन्यत् एव) दूसरा ही है । (ते) वे (नानार्थे) भिन्न-भिन्न परिणाम वाले (उभे) दोनों श्रेय एवं प्रेय मार्ग (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) बाँधते हैं अर्थात् अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं । (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) कल्याण-मार्ग के (आददानस्य) स्वीकार करने वाले का (साधु) अच्छा फल अर्थात् कल्याण (भवति) होता है । (उ यः) और जो (प्रेयः) सांसारिक भोगों की प्राप्ति के साधनभूत प्रिय लगने वाले मार्ग को (वृणोते) स्वीकार करता है (सः) वह (अर्थात्) मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य [फल] से (हीयते) गिर जाता है अथवा भ्रष्ट हो जाता है ।

व्याख्या—समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान ८४ लाख योनियों के बीच एक मनुष्य योनि ही ऐसी योनि है कि जिसे कर्मयोनि तथा भोगयोनि दोनों ही

कहा जा सकता है। शेष सम्पूर्ण योनियाँ भोगयोनियाँ ही है। अतः मनुष्य को इस योनि में नवीन कर्म करने का भी अधिकार है तथा विगत कर्मों के फल भोगने का भी। नवीन कर्मों के द्वारा वह अपने भावी जीवन का निर्माता भी बन सकता है। इस भाँति वह अपने भावी जीवन के लिये सुखोत्पादक साधनों का भी अनुष्ठान कर सकता है। वेदों में ये साधन दो प्रकार के कहे गये हैं (१) श्रेय अर्थात् सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर नित्य एवं आनन्द स्वरूप भगवान् के आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने का उपाय अथवा ब्रह्म की प्राप्ति का ही उपाय। (२) प्रेय अर्थात् प्रिय लगने वाला साधन (मार्ग) कि जिसके द्वारा स्त्री, पुत्र, धन, भवन, सम्पत्ति, यश इत्यादि इस लोक-सम्बन्धी अथवा स्वर्गलोक-सम्बन्धी सभी प्रकार की सुखोपभोगयोग्य सामग्रियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ये दोनों ही प्रकार के साधन मनुष्य को अपनी-अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं। अधिकांश व्यक्ति यह समझ कर कि भोगों के द्वारा तत्काल ही सुख की उपलब्धि होती है, उसके परिणाम के बारे में न सोचते हुए, प्रेय-मार्ग की ओर ही झुक जाया करते हैं! किन्तु कोई बिरले पुरुष ही भोगों की परिणाम-दुःखता का रहस्य जानकर उस ओर से विरक्त (राग-रहित) होकर श्रेय-मार्ग का अवलम्बन ले लिया करते हैं। इन दोनों प्रकार के साधनों अथवा मार्गों में से जो श्रेय-मार्ग का आश्रय प्राप्त कर लेता है वह सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर भगवान् के असीम आनन्द की अनुभूति किया करता है अथवा ब्रह्म के आनन्द की अनुभूतिकर उस [ब्रह्म] को ही प्राप्त कर लिया करता है। किन्तु जो व्यक्ति सांसारिक सुखों के साधनों की ओर मुड़ जाता है वह मानव जीवन के चरम-लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता है और विपरीत संसार के आवागमन (जन्म एवं मृत्यु) के बन्धन में ही पड़ा रहा करता है और इस भाँति वह नाना प्रकार के दुःखों का भागी बनता है तथा उसे विभिन्न योनियों का भोग भी भोगना पड़ता है।

हमारे शास्त्रों में भी धर्म का लक्षण "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" किया गया है। धारण करने योग्य (स्वीकरणीय) साधन ही धर्म कहलाते हैं। उनमें भी (यतः) जिन साधनों के द्वारा (अभ्युदय) इस लोक में कल्याण तथा परलोक में (निःश्रेयस) भगवान् में परमपद [मोक्ष] की (सिद्धिः)

सिद्धि प्राप्त हो वे ही साधन वस्तुतः धर्म-शब्द-वाच्य माने गये हैं। श्रेयमार्ग हमारे सब प्रकार के दुखों से मुक्तिप्रदाता है। अतः मानव-जीवन के चरम लक्ष्य (निःश्रेयस-प्राप्ति) की साधनभूत श्रेयमार्ग ही मानवमात्र के लिये स्वीकरणीय है।

इन्हीं दोनों मार्गों को विद्या तथा अविद्या शब्दों द्वारा भी कहा गया है। एक ज्ञानमार्ग है तथा दूसरा अज्ञानमार्ग (जिसे दूसरे शब्दों में कर्ममार्ग भी कहा जा सकता है)। उपर्युक्त अभ्युदय की जो इच्छा है वह अविद्याजनित होने के कारण जीवात्मा को आवागमन (जन्म-मृत्यु) के चक्र में निरन्तर घुमाती रहती है। किन्तु जो निःश्रेयस की प्राप्ति की इच्छा है वह विद्या—(ज्ञान) जनित होने के कारण मनुष्य को आवागमन (जन्म एवं मृत्यु) के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कराती है और अन्त में तत्त्व-ज्ञान का उदय करा के वासनारहित होकर भगवान के परम-पद की ओर अग्रसर करती हैं। इसी कारण प्रेय की इच्छा को अशुभ और श्रेय की इच्छा को परम कल्याणप्रद कहा गया है।

श्रेय तथा प्रेम दोनों ही प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करना यदि मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है तो अधिकांश व्यक्ति 'प्रेय' का ही आश्रय क्यों ग्रहण करते हैं ? इसका विवेचन करते हुए यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रेयमार्ग का अनुसरण न करनेवाले धीर पुरुष कैसे होते हैं :—

[शां०—परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह—अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयस तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि। ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः। श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते। अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः। ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति। यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः। कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥]

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

पद०—श्रेयः । च । प्रेयः । च । मनुष्यम् । एतः । तौ । सम्परीत्य । विविनक्ति । धीरः । श्रेयः । हि । धीरः । अभि । प्रेयसः । वृणीते । प्रेयः । मन्दः । योगक्षेमात् । वृणीते ।

(श्रेयः) कल्याण का मार्ग (प्रेयः) मन को प्रिय प्रतीत होने वाला विषयों का मार्ग यह दोनों ही (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं । (धीरः) बुद्धिमान् पुरुष (तौ) उन दोनों के बारे में (सम्परीत्य) भली-भांति विचार करके (विविनक्ति) उनको पृथक्-पृथक् रूप से जान लेता है । (धीरः) ऐसा श्रेष्ठ बुद्धि वाला पुरुष (हि) निश्चित रूप से (प्रेयसः) प्रिय लगने वाले भोग साधन की अपेक्षा (श्रेयः) कल्याण के साधन को ही (अभि-वृणीते) श्रेष्ठ समझकर स्वीकार करता है । किन्तु (मन्दः) मन्द बुद्धि वाला अविवेकी पुरुष (योगक्षेमात्) सांसारिक योगक्षेम की इच्छा से (प्रेयः) भोगों में प्रवृत्त करनेवाले प्रवृत्तिमार्ग को ही (वृणीते) स्वीकार करता है ।

योगक्षेम—जो कुछ भोग्य पदार्थ स्वीकार हैं, वे सुरक्षित बने रहें तथा जो अप्राप्त हैं वे अधिक परिमाण में उपलब्ध हो जावें, यही योगक्षेम है ।

अथवा

अप्राप्त की प्राप्ति का नाम **योग** और प्राप्त की रक्षा का नाम **क्षेम** है ।

इस संसार में इस प्रकार के भी अनेक व्यक्ति हैं कि जो पुनर्जन्म में विश्वास ही नहीं करते हैं । अतः उनकी दृष्टि में कर्मों का फल आगामी जन्म में भी भोगना पड़ा करता है, यह पक्ष ही उत्पन्न नहीं होता । ऐसे पुरुष सांसारिक भोगों में आसक्त होकर अपने बहुमूल्य जीवन को पशुओं के समान भोगों को भोगने में ही समाप्त कर देते हैं । किन्तु जो व्यक्ति पुनर्जन्म तथा परलोक आदि में विश्वास रखने वाले हैं, ऐसे विवेकशील पुरुषों के समक्ष जब ये दोनों श्रेय तथा प्रेय उपस्थित होते हैं तब वे इन दोनों के गुण-दोषों आदि की

ओर विशेष रूप से ध्यान देते तथा उनका परीक्षण करते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों साधनों को अपनी बुद्धिरूपी कसौटी पर कस देते हैं और वास्तविक परिणाम पर पहुँचकर जल से दुग्ध को पृथक् कर ग्रहण करनेवाले हंस के सदृश प्रेय की उपेक्षा कर श्रेय को ही स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु जो मनुष्य अल्प-बुद्धि हैं तथा जो सदसद्-विवेक के सामर्थ्य से रहित हैं वे अधिक समय के पश्चात् प्राप्त होनेवाले श्रेय के फल में विश्वास न कर प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाले लौकिक योगक्षेम के निमित्त 'प्रेय' का ही अवलम्बन प्राप्त कर लिया करते हैं अर्थात् वे लोग शरीर की वृद्धि-रक्षा आदि के लिये पशु-पुत्रादि रूप प्रेय (प्रिय लगनेवाली वस्तुओं) की ही प्रार्थना किया करते हैं।

अब यमाचार्य उपर्युक्त प्रिय लगनेवाले पदार्थों के प्रलोभनों में न फँसने वाले नचिकेता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं :—

[**शां०**—यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्। कोऽसौ ? धीरः। यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ १ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

पद०—सः। त्वम्। प्रियान्। प्रियरूपान्। च। कामान्। अभिध्यायन्। नचिकेतः। अत्यस्राक्षीः। न। एताम्। सृङ्काम्। वित्तमयीम्। अवाप्तः। यस्याम्। मज्जन्ति। बहवः। मनुष्याः।

(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) वह (त्वम्) तुमने (प्रियान्)

प्रिय लगने वाले (च) और (प्रियरूपान्) अत्यन्त सुन्दर रूपवाले (कामान्) इस लोक और परलोक से सम्बन्धित सभी भोगों की (अभिध्यायन्) भली भाँति सोच समझकर [उनकी अनित्यता एवं असारता आदि दोषों का विचार करके] (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया है। (एताम्) इस (वित्तमयीम्) सम्पत्तिरूपी (सृङ्काम्) माला, शृङ्खला अथवा बेड़ी को भी (न) नहीं (अवाप्तः) प्राप्त किया [अर्थात् दूसरे बन्धन में भी तुम नहीं फँसे] कि (यस्याम्) जिसमें (बहवः) बहुत से (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) डूब जाया करते हैं अर्थात् फँस जाते हैं।

यमाचार्य कहते हैं :—हे नचिकेता ! तूने सांसारिक एवं स्वर्गीय सुखोपभोगों को अनित्य एवं तत्त्वहीन समझ कर त्याग दिया है। अतः तू वास्तव में आत्म-ज्ञान का अधिकारी है।

व्याख्या—हे नचिकेता ! मैंने बड़े ही आकर्षक एवं लोभप्रदायिनी भाषा का प्रयोग कर तुमको अनेकबार पुत्र-पौत्र, हाथी, घोड़े, सम्पत्ति, भूमि आदि अनेक दुष्प्राप्य तथा आकर्षक भोग्य-पदार्थों का प्रलोभन दिया। साथ ही स्वर्गीय दिव्य भोगों तथा अप्सराओं के बहुत कालपर्यन्त भोग करने का भी प्रलोभन दिया। किन्तु तुमने स्वाभाविक रूप से ही इन सबकी उपेक्षा कर दी और इन सब पदार्थों को त्याग दिया तथा अपने आत्मज्ञान सम्बन्धी वर की ही ओर झुके रहे। अतः मैं इस परिणाम पर पहुँच गया हूँ कि तुम वस्तुतः उस आत्मतत्व-सम्बन्धी उपदेश श्रवण करने के अधिकारी हो।

यम इसी प्रसंग में पुनः कथन करते हैं :—

[**शां०**—स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियारूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव। नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ।। ३ ।।

दूरमेते विपरीते विषूची

अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बह्वोऽलोलुपन्त ।।४।।

पद०—दूरम् । एते । विपरीते । विषूची । अविद्या । या । च । विद्या । इति । ज्ञाता । विद्याभीप्सिनम् । नचिकेतसम् । मन्ये । न । त्वा । कामः । बहवः । अलोलुपन्त ।

पूर्वोक्त (एते) श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग अथवा साधन (दूरं, विपरीते) परस्पर अत्यन्त विपरीत तथा (विषूची) भिन्न भिन्न फल देने वाले हैं। ये दोनों (अविद्या) विपरीत ज्ञान और (विद्या) यथार्थ-ज्ञान नाम से (ज्ञाता) विद्वानों द्वारा जाने गये हैं। (नचिकेतसं) तुम नचिकेता को मैं (विद्या-अभीप्सिनं) यथार्थ ज्ञान का चाहने वाला ही (मन्ये) मानता हूँ [क्योंकि] (त्वा) तुमको (बहवः) ब त से (कामाः) भोग अथवा भोग्य पदार्थ भी (न) नहीं (अलोलुपन्त) लुभा सके।

विद्या—यथार्थ ज्ञान का ही नाम विद्या है।

अविद्या—योग-दर्शन में अविद्या का निम्नांकित प्रकार से लक्षण किया गया है :—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" ॥

योग दर्शन २।५ ॥

अनित्य, अपवित्र, दुःखात्मक तथा अनात्म पदार्थों में नित्य, पवित्र, सुखात्मक एवं आत्मयुक्त भावना रखना ही अविद्या है। अनित्य अर्थात् नश्वर पदार्थों को नित्य समझता, अपवित्र शरीर आदि के सम्बन्ध में पवित्र बुद्धि रखना, दुःखरूप विषय भोगादि में सुख-बुद्धि रखना, पुत्र, पौत्र, स्त्री, मित्रादि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना ("पुत्रात्मा मनुष्यस्य" के आधार पर पुत्र को ही अपना आत्मा मानना आदि) ही अविद्या का वास्तविक स्वरूप है

व्याख्या—पहले यह कहा जा चुका है कि श्रेय मार्ग का अवलम्बन लेने वाले व्यक्ति का कल्याण होता है तथा प्रेय मार्ग का आश्रय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति उस कल्याणरूपी मोक्ष से भ्रष्ट हो जाता है—उसे इस संसार के बन्धन में ही बँधा रहना पड़ता है। इन्हीं श्रेय तथा प्रेय को क्रमशः विद्या और

अविद्या नाम से भी कहा है। ये दोनों ही प्रकार के साधन अथवा मार्ग परस्पर

अत्यन्त विरुद्ध तथा विपरीत फलों को देनेवाले हैं। दोनों का बहुत अधिक पार्थक्य है, श्रेय विवेकरूप है और प्रेय अविवेक रूप है। इस भाँति ये दोनों प्रकाश एवं अन्धकार के सदृश विरुद्ध भावों से युक्त हैं। जिसकी भोगों में (अविद्या में अथवा प्रेय में) आसक्ति है वह श्रेय-साधन की ओर आगे नहीं बढ़ पाता है तथा जो श्रेय-मार्ग का पथिक है, वह भोगों की ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं किया करता है। वह तो सभी प्रकार के भोगों को दुःखरूप मानता है और इसी कारण उनका त्याग कर देता है। हे नचिकेता ! मैं तुमको विद्या (श्रेय मार्ग का ही पथिक) का ही इच्छुक मानता हूँ क्योंकि तुमको महान् से महान् सांसारिक प्रलोभन अपने मार्ग से किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं कर सके।

अब यमाचार्य अविद्या में संलग्न व्यक्ति का कथन करते हैं :—

[शां०—तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतः—दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। के ते इत्युच्यते या चाविद्या प्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥४॥]

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

पद०—अविद्यायाम्। अन्तरे। वर्तमानाः। स्वयम्। धीराः। पण्डितम्। मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति। मूढाः। अन्धेन। एव। नीयमानाः। यथा। अन्धाः।

(अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) मध्य में (वर्तमानाः) विद्यमान होते हुए भी (स्वयं) अपने आपको (धीराः) विद्वान और (पण्डितं मन्यमानाः) पण्डित मानने वाले (मूढाः) मूर्ख लोग (दन्द्रम्यमाणाः) नाना प्रकार की योनियों में भटकते हुए (परियन्ति) [उसी प्रकार से] ठोकर

खाते फिरते हैं (यथा) जैसे (अन्धेन एव) अन्धे मनुष्य द्वारा (नीयमानाः) ले जाये जाने वाले (अन्धाः) अन्धे ।

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्य को मार्ग दिखलाने वाला भी अन्धा ही मिल जाता है तब वह अपने अभीष्ट स्थान पर न पहुँच कर इधर-उधर भटकता फिरता है। परिणाम यह होता है कि वह अन्धा पुरुष स्वयं गढ्ढे आदि में गिरता अथवा किसी चट्टान, दीवाल, वृक्ष, पशु आदि से टकराकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है और साथ ही अपने सहारे ले जाने वाले दूसरे अन्धे को भी कष्ट भुगवाया करता है। इसी भाँति जो सांसारिक-पुरुष प्रगाढ़ अन्धकार की भाँति अविद्या (अज्ञान) में विद्यमान पुत्र-पशु सम्बन्धी नाना प्रकार की तृष्णाओं में लिप्त होने पर भी स्वयं अपने को धीर, ज्ञानी तथा पण्डित अर्थात् शास्त्रज्ञ समझा करते हैं वे विवेकहीन मूर्ख पुरुष वृद्धावस्था, मृत्यु एवं रोगादिजनित नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करते हुए महान् अनर्थ को प्राप्त हुआ करते हैं। और इस भाँति इस ब्रह्माण्ड में ही विभिन्न योनियों में भ्रमण करते हुए जन्म एवं मृत्यु आदि के बन्धन में बँधे रहा करते हैं।

इस प्रकार मूढ़जनों की क्या गति होती है? इसके बारे में अब यमाचार्य कहते हैं :—

[शां०—ये तु संसारभाजनाः—अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्टयमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥]

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

पद०—न। साम्परायः। प्रतिभाति। बालम्। प्रमाद्यन्तम्। वित्तमोहेन।

मूढम् । अयम् । लोकः । न । अस्ति । परः । इति । मानी । पुनः । पुनः । वशम् । आपद्यते । मे ।

इस प्रकार (वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्) मोहित (प्रमाद्यन्तम्) प्रमाद करने वाले अज्ञानी पुरुष के अन्दर (साम्परायः) परलोक का विचार (न प्रतिभाति) प्रगट नहीं होता है। वह समझा करता है कि(अयम्) यह प्रत्यक्ष दृश्यमान (लोकः) लोक ही सत्य है। (परः) इसके अतिरिक्त दूसरा [स्वर्ग, नरक आदि लोक] (न, अस्ति) नहीं है; (इति) इस प्रकार (मानी) मानने वाला अभिमानी मनुष्य (पुनः पुनः) बार बार (मे) मेरे (वशम्) वश को (आपद्यते) प्राप्त होता है।

व्याख्या—मनुष्य योनि ही सर्वश्रेष्ठ योनि है। इस योनि को प्राप्त कर मनुष्य विगतकर्मों का भोग करता तथा अपने भविष्य को छिपाने-हेतु नवीन कर्मों को भी किया करता है। मानव-जीवन की इस श्रेष्ठता का अनुभव न करने वाला अभिमानी पुरुष लौकिक-भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के साधनभूत धन आदि के मोह में जकड़ा रहा करता है। इसका परिणाम यह होता है कि सांसारिक भोगों में लिप्त रहने के कारण वह जैसा चाहता है, वैसा आचरण करने लगा करता है। उसकी दृष्टि में परलोक आदि के लिये कोई स्थान ही नही रहता। उसके मन में इस प्रकार की बातें उत्पन्न ही नहीं होती कि मरने के पश्चात् उसे अपने सम्पूर्ण कर्मों का फल भोगने के निमित्त विवश होकर नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेना होगा। ऐसा अज्ञानी पुरुष यह समझता है कि जो कुछ प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, वही लोक है। इसी की वास्तव में सत्ता है। यहाँ पर रहते हुए जितना अधिक विषय सुख भोग लिया जाये, उतना ही बुद्धिमत्ता का कार्य है। परलोक को किसने देखा है। वह तो कल्पना मात्र है। इस प्रकार का व्यक्ति बार-बार जन्म-मृत्यु (आवागमन) के बन्धन में बँधता तथा नाना प्रकार की योनियों का आश्रय प्राप्त किया करता है।

अब यम नचिकेता को उस आत्मतत्व की दुर्लभता के बारे में समझाते हुए कहते हैं :—

[**शां०**—अत एव मूढत्वात्—न साम्परायः प्रतिभाति। सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः। स च

बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येत। प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम्। अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादि विशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम। जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः। प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

पद०—श्रवणाय। अपि। बहुभिः। यः। न। लभ्यः। शृण्वन्तः। अपि। बहवः। यं। न। विद्युः। आश्चर्यः। अस्य। वक्ता। कुशलः। अस्य। लब्धा। आश्चर्यः। ज्ञाता। कुशलानुशिष्टः।

(यः) जो [आत्मतत्त्व] (बहुभिः) बहुतों को तो (श्रवणाय) सुनने के लिये (अपि) भी (न) नहीं (लभ्यः) प्राप्त होता अथवा मिलता। (यं) जिसको (बहवः) बहुत से लोग (शृण्वन्तः) सुनते हुए होने पर (अपि) भी (न विद्युः) नहीं समझ पाते हैं। (अस्य) ऐसे उस आत्मतत्त्व का (वक्ता) कथन करने वाला व्यक्ति (आश्चर्यः) आश्चर्यमय है अर्थात् दुर्लभ है। (अस्य) इस [आत्मतत्त्व] का (लब्धा) प्राप्त करने वाला (कुशलः) योग्य चतुर व्यक्ति कोई विरला ही होता है [और फिर] (कुशलानुशिष्टः) जिसको आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो गयी है ऐसे ज्ञानी पुरुष द्वारा शिक्षा प्राप्त (ज्ञाता) आत्मतत्त्व का जानकार भी (आश्चर्यः) आश्चर्यमय अर्थात् कोई विरला ही होता है।

व्याख्या—संसार में अधिकांश पुरुष इस प्रकार के हैं कि जिनको आत्म-कल्याण-सम्बन्धी चर्चा भी सुनने को उपलब्ध नहीं होती। क्योंकि उनका समय प्रातःकाल से लेकर रात्रि में सोने के समय तक नाना प्रकार के विषयों में संलग्न रहा करता है तथा वे सदैव चिन्तित एवं व्यग्र से प्रतीत हुआ करते

हैं। अतः आत्मतत्त्व के सुनने अथवा समझने के बारे में उनके मन में कभी कल्पना ही उत्पन्न नहीं होती है। कुछ लोग इस प्रकार के होते हैं कि जो आत्मतत्त्व के बारे में श्रवण तो कर लेते हैं किन्तु श्रवण करने पर भी वे उसे जानने में समर्थ नहीं हो पाते हैं क्योंकि उनका मन सांसारिक विषयों की ओर ही ले जाता है। ऐसी स्थिति में उन्हें मनन अथवा चिन्तन करने का अवसर ही नहीं हो पाता है।

और जो तीव्र बुद्धि वाले पुरुष उस आत्मतत्त्व को भली भाँति समझ लेते हैं, उनमें भी आत्म-तत्त्व का यथार्थरूप से वर्णन करने वाला कोई विरला ही पुरुष होता है। तथा आत्म-साक्षात्कार करने वाले अनुभवी आचार्य द्वारा उपदेश प्राप्त करके तदनुसार मनन एवं निदिध्यासन (ध्यान करना) द्वारा उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाला पुरुष भी कोई विरला ही होता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस आत्म-तत्त्व का वक्ता, उपदेष्टा एवं साक्षात्कारकर्त्ता मिलना संसार में कठिन ही है।

अब यमाचार्य नचिकेता को आत्मज्ञान की दुर्बलता का कारण बतलाते हुए कहते हैं :—

[शां०—यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्— श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः। किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिद् एव भवति। तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति। यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन् ॥ ७ ॥]

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

पद०—न। नरेण। अवरेण। प्रोक्तः। एषः। सुविज्ञेयः। बहुधा।

चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते । गतिः । अत्र । न । अस्ति । अणीयान् । हि । अतर्क्यम् । अणुप्रमाणात् ।

(अवरेण) साधारण (नरेण) पुरुष के द्वारा (प्रोक्तः) कथन किया गया हुआ [आत्मतत्त्व] (बहुधा) नाना प्रकार से (चिन्त्यमानः) चिन्तन किये जाने पर भी (एषः) यह अत्मतत्त्व (सुविज्ञेयः न) सरलता पूर्वक समझने योग्य नहीं है । (अनन्यप्रोक्ते =अन+अन्य+प्रोक्ते) किसी अन्य ज्ञानी पुरुष द्वारा उपदेश प्राप्त न किये जाने पर (अत्र) इस आत्मतत्त्व के बारे में (गतिः) गति (न, अस्ति) नहीं हो पाती है (हि) क्योंकि यह [आत्मा] (अणुप्रमाणात्) अत्यन्त सूक्ष्म अणु से भी (अणीयान्) अतिसूक्ष्म है । अतएव (अतर्क्यम्) वह तर्क का विषय नहीं है ।

जो साधारण नाम से युक्त (अल्पज्ञ) मनुष्य हैं, यदि उनसे इस आत्म-ज्ञान के बारे में श्रवण कर भी लिया जाय और तदनुसार यदि उसका चिन्तन भी किया जाय तो उससे आत्मज्ञान सम्बन्धी फल की प्राप्ति नहीं होती तथा इस भाँति आत्मतत्त्व लेशमात्र भी समझ में नहीं आता । किसी दूसरे से बिना सुने केवल स्वयं तर्क-वितर्क-युक्त विचार करने से भी इस आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं की जा सकती है । अतः किसी योग्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष से ही इस आत्मतत्व के बारे में श्रवण करना आवश्यक है । और तभी यह विषय समझ में भी आ सकता है ।

[शां०—कस्मात्—न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृत-बुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठुसम्यग्विज्ञेयोविज्ञातुं शक्यो यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधाऽस्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वा-दात्मनः । अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्य प्रोक्ते गतिः अत्रान्याव-गतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावत् । ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञा-नम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मा-त्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मनि अगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानम् अत्र नास्ति । भवत्ये-

वावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थ एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि सम्पद्यत आत्मा। अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते ॥८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

पद०—न। एषा। तर्केण। मतिः। आपनेया। प्रोक्ता। अन्येन। एव। सुज्ञानाय। प्रेष्ठ। याम्। त्वाम्। आपः। सत्यधृतिः। बत। असि। त्वादृक्। नः। भूयात्। नचिकेतः। प्रष्टा।

(प्रेष्ठ) हे प्रियतम नचिकेता ! (याम्) जिस बुद्धिको (त्वम्) तुमने (आपः) प्राप्त किया है (एषा) यह (मतिः) बुद्धि (तर्केण) तर्क के द्वारा (न, आपनेया) नहीं प्राप्त की जा सकती। यह तो (अन्येन) नास्तिक से भिन्न किसी दूसरे आचार्य के द्वारा (प्रोक्ता, एव) कही हुई ही (सुज्ञानाय) उत्तम आत्म-ज्ञान के निमित्त (भवति) होती है। (बत) सचमुच ही (सत्यधृतिः) तुम उत्तम धैर्य वाले (असि) हो (नचिकेतः) हे नचिकेता [हमारी यह इच्छा है कि](त्वादृक्)तुम्हारे समान ही (प्रष्ट) पूछने वाले (नः, भूयात्) हमें प्राप्त हुआ करें।

व्याख्या—हे नचिकेता ! तुम्हारी इस निर्मल बुद्धि को देखकर मुझे महती प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठापूर्ण बुद्धि तर्क के द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती है। यह तो तभी प्राप्त हो सकती है कि जब किसी वेदज्ञ, ब्रह्मवेत्ता महापुरुष की संगति प्राप्त हो। और फिर इस प्रकार के व्यक्ति के द्वारा आत्मतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। तुम वस्तुतः सत्य-धैर्यशाली हो कि जो इतने प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों के उपस्थित किये जाने पर भी अपनी बात पर दृढ़ रहे। अतः मेरी यह हार्दिक अभिलाषा

है कि तुम्हारे समान ही मुझे अन्य पूछने वाले जिज्ञासुजन भविष्य में भी प्राप्त हों।

अब यमाचार्य अनित्य पदार्थों (अथवा साधनों) के द्वारा उस नित्य-आत्मतत्त्व की प्राप्ति का निषेध-कथन करते हुये कहते हैं—

[**शां०**—अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्न येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्धयभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति। अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम! का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते—यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि। सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद्भवताद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥]

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

पद०—जानामि। अहम्। शेवधिः। इति। अनित्यम्। नहि। अध्रुवैः। प्राप्यते। हि। ध्रुवम्। तत्। ततः। मया। नाचिकेतः। चितः। अग्निः। अनित्यैः। द्रव्यैः। प्राप्तवान्। अस्मि। नित्यम्।

(अहम्) मैं (जानामि) जानता हूँ कि (शेवधिः) कर्मफलजन्य निधि (अनित्यम्, इति) अनित्य है। (हि) क्योंकि (अध्रुवैः) अनित्य (नश्वर) पदार्थों से अथवा नश्वर साधनों के द्वारा (तत्) वह (ध्रुवं) नित्य-आत्मतत्त्व (नहि प्राप्यते) नहीं प्राप्त किया जा सकता है। (ततः) इसीलिये (मया) मैंने (नाचिकेतः) नाचिकेत नामक अग्नि का (चितः) चयन किया [और फिर उसमें] (अनित्यैः, द्रव्यैः)अनित्य पदार्थों अथवा साधनों [की आहुति] के द्वारा (नित्यम्) नित्य आत्मतत्त्व को (प्राप्तवान् अस्मि) प्राप्त कर लिया है।

भोग के सभी साधन अनित्य हैं। जब तक मनुष्य इन अनित्य भोग के साधनों में लिप्त रहा करता है तब तक वह उस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं कर पाता है। अतः भोगों के साधनों के प्रति जो आसक्ति है उसका त्याग करना चाहिये। इसी आधार पर यमाचार्य कहते हैं कि उन्होंने सम्पूर्ण अनित्य भोग साधनों को त्याग दिया। तदनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से कथित एवं बुद्धि में स्थित उस नचिकेत-अग्नि को प्रदीप्त किया। और इस भाँति उन अनित्य भोग-साधनों को उसमें समर्पण कर [आहुति देकर] नित्य एवं शाश्वत-आत्म-तत्त्व को जान लिया है।

वस्तुतः कर्मों का फल अनित्य है। अतः संसार में जो कर्म किये जाते हैं उनके परिणाम क्षणिक हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि मीमांसा-शास्त्रीय यज्ञ इत्यादि साधनों (कर्मों) के द्वारा प्राप्त होने वाला स्वर्ग आदि भी कर्मजन्य होने के कारण अनित्य ही हुआ। अतः इन अनित्य कर्मों के द्वारा उस नित्य आत्म-तत्त्व के ज्ञानरूपी फल की प्राप्ति कैसे की जा सकती है ? तह सत्य ही है।

तात्पर्य यह है कि संसार में रहते हुये मनुष्य को न तो सांसारिक भोग्य पदार्थों के प्रति ही आसक्त होना चाहिये तथा न कर्मों के अथवा कर्मों के फलों के प्रति ही आसक्त होना चाहिये।[१] इस भाँति कर्मों में अनासक्त होते हुये निष्काम भाव (फल भी इच्छा न करते हुए) से कर्मों को करते हुए मानव संसार के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लिया करता है तथा जीवन्मुक्त कहलाता है। कि इसी जीवन मुक्तावस्था में वह ब्रह्म के आनन्द की अनुभूति करने लगा करता है।

इस प्रकार यमाचार्य ने भी निष्कामभाव से अनित्य पदार्थों के द्वारा कर्तव्यपालनरूप भगवत्-पूजन अथवा आराधना करके नित्य आनन्द-स्वरूप उस परमात्मा के आनन्द को अथवा आत्मतत्त्व को ही प्राप्त कर लिया। परमात्मा के आनन्द की अनुभूति अथवा प्राप्ति कर लेना ही आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेना है

(१) गीता में भी—
"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इत्यादि वर्णन विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।

[शां०—पुनरपि तुष्ट आह—जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति । असावनित्यमनित्य इति जानामि । हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्य शेवधिः । यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते । हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्य-मनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः । अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ।।१०।।]

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।।११।।

पद०—कामस्य । आप्तिम् । जगतः । प्रतिष्ठाम् । क्रतोः । अनन्त्यम् । अभ-यस्य । पारम् । स्तोममहत् । उरुगायम् । प्रतिष्ठाम् । दृष्ट्वा । धृत्या । धीरः । नचिकेतः । अत्यस्राक्षीः ।

(नचिकेतः) हे नचिकेता ! तुमने (कामस्य) काम्य कर्मों अथवा इच्छित कर्मों की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत की (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा को (क्रतोः) यज्ञ के (अनन्त्यम्) चिरस्थायी फल को, (अभयस्य) निर्भयता की (पारम्) अवधि से युक्त (स्तोममहत्) स्तुति करने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण (उरुगायम्) प्रशस्त अथवा प्रशंसनीय अथवा महान् पुरुषों द्वारा स्तुति करने योग्य (प्रतिष्ठां) प्रतिष्ठा युक्त स्वर्गलोक को (दृष्ट्वा) देखकर (धृत्वा) धैर्य के साथ उसका (अत्यस्राक्षीः) त्याग कर दिया है । अतः मैं समझता हूँ कि तुम (धीरः) बहुत बुद्धिमान् (असि) हो।

व्याख्या—हे नचिकेता ! मैंने तुम्हारे समक्ष वरदान में प्राप्त करने योग्य स्वर्गलोक को रखा कि जो सब प्रकार के भोगों से परिपूर्ण, जगत का आधार भूत, यज्ञादि कर्मों का चिरस्थायी फलरूप, सब प्रकार के कष्टों एवं भयों से रहित, स्तुति करने योग्य तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । किन्तु तुमने इसके महत्त्व को जानते हुए होने पर भी बड़े धैर्य के साथ उसका त्याग कर दिया, उसके प्रति तुम्हारी तनिक भी आसक्ति नहीं हुई । और इस प्रकार तुम अपने पूर्व

निश्चय पर ही दृढ़ बने रहे। इस कारण मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि तुम वस्तुतः बड़े बुद्धिमान् हो तथा उस परम आत्मतत्त्व को जानने के अधिकारी हो।

अतः अब यमाचार्य नचिकेता के समक्ष उस परम आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं :—

[शां०—त्वं तु कामस्याप्तिं ग्माप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम् अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा घृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आङ्क्षाङ्क्षन्नतिसृष्टबानसि सर्वम् एतत् संसारभोगजातम्। अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

पद०—तम्। दुर्दर्शं। गूढम्। अनुप्रविष्टम्। गुहाहितम्। गह्वरेष्ठम्। पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन। देवम्। मत्वा। धीरः। हर्षशोकौ। जहाति॥

(धीरः) धीरः बुद्धिमान् पुरुष (अध्यात्मयोगाधिगमेन) अध्यात्मयोग [सांसारिक विषयों से अपने मन को हटाकर आत्मा में एकाग्र करने का नाम ही "अध्यात्मयोग" है।] की प्राप्ति से अथवा अध्यात्मयोग के साधन के द्वारा (तं) उस (दुर्दर्शं) अत्यन्त (सूक्ष्म होने के कारण अति कष्ट के साथ देखे जाने योग्य, (गूढम्) अन्तर्निहित रूप में (अनुप्रविष्टम्) सर्वत्र प्रविष्ट हुआ अथवा व्याप्त, (गुहाहितम्) बुद्धिरूपी गुफा में स्थित [क्योंकि बुद्धि में ही उसकी उपलब्धि की जाती है] (गह्वरेष्ठम्) विषम अथवा [संसाररूपी] गहन वन में निवास करने वाला अथवा अन्तःकरण में स्थित [अथवा विराजमान] और (पुराणम्) प्राचीन अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान

(देवम्) दिव्य गुणों से युक्त परमात्मा को (मत्वा) मानकर अथवा जान-कर (हर्षशोकौ) हर्ष एवं शोक को (जहाति) त्याग देता है ।

व्याख्या—वह परमात्मा सूक्ष्म एवं सर्वव्यापक होने के कारण दुर्दर्श अर्थात् बड़े कष्ट एवं प्रयत्न से समझा जाने योग्य है । वह इन्द्रियों का विषय नहीं है । उसका ज्ञान केवल अध्यात्मयोग द्वारा ही होता है । "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" सांसारिक विषयों से चित्त की वृत्तियों को हटा लेना ही योग है और फिर चित्त को आत्मतत्त्व में लगा देने का नाम ही अध्यात्मयोग है । इसी योग-साधन द्वारा मनुष्य हर्ष एवं शोक से रहित हो जाता है ।

[**शां०**—यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्–तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वाद् गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्न-मित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वाद् गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहित-श्चातो गह्वरेष्ठः; अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देव-मात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति ।। १२ ।।]

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ।। १३ ।।

पद०—एतत् । श्रुत्वा । सम्परिगृह्य । मर्त्यः । प्रवृह्य । धर्म्यम् । अणुम् । एतम् । आप्य । सः । मोदते । मोदनीयम् । हि । लब्ध्वा । विवृतम् । सद्म । नचिकेतसम् । मन्ये ।

(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस (धर्म्यम्) धारण=स्वीकार करने योग्य उपदेश को (श्रुत्वा) सुनकर (सम्परिगृह्य) भली भाँति उसे ग्रहण कर (प्रवृह्य) और ज्ञानपूर्वक उसके बारे में विचार करके (एतम्) इस (अणुम्) सूक्ष्म आत्मतत्त्व को (आप्य) प्राप्त कर उसे भली भाँति समझ लेता है । और फिर (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्द स्वरूप उस परमात्मा

को (लब्ध्वा) प्राप्त कर (मोदते) भगवान के चिरन्तन आनन्द में मग्न हो जाता है । मैं (नचिकेतसम्) नचिकेता के लिये (विवृतं, सद्म) परमात्मा का खुला हुआ द्वार (मन्ये) मानता हूँ ।

व्याख्या—इस परमात्मविषयक धार्मिक उपदेश को सर्वप्रथम किसी अनुभवी विद्वान् पुरुष के द्वारा श्रद्धापूर्वक सुनना चहिये । श्रवण करने के पश्चात् उस पर भली भाँति मनन करना चाहिये । तदनन्तर एकान्त में स्थित होकर उस आत्मतत्त्व का ध्यान अथवा चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन रूपी साधनों द्वारा जब मनुष्य को आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्मतत्त्व को भलीभाँति समझ लेता है तब आनन्दस्वरूप परमधाम को प्राप्त हो जाता है । हे नचिकेता ! इस प्रकार के आनन्दमय परमधाम (मोक्ष) का द्वार तुम्हारे लिये खुला हुआ है । तुमको वहाँ जाने से कोई रोक नहीं सकता । तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व की प्राप्ति के अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ ।

इस प्रकार यमाचार्य के मुख से उस आत्मतत्त्व की महिमा को सुनकर और अपने को उसका अधिकारी जानकर नचिकेता के मन में आत्मतत्त्वविषयक जिज्ञासा उत्पन्न हुई ।

अतः उसने बीच में ही यमाचार्य से पूछा :—

[**शां०**—किं च एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानम् आप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥१३॥]

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

पद०—अन्यत्र । धर्मात् । अन्यत्र । अधर्मात् । अन्यत्र । अस्मात् । कृताकृतात् । अन्यत्र । भूतात् । च । भव्यात् । च । यत् । तत् । पश्यसि । तत् । वद ।

(यत् तत्) जिस उस परमात्मा को आप (धर्मात्) यज्ञादि करणीय कर्तव्य कर्मों से अतीत अथवा पृथक् और (अधर्मात्) अधर्म से भी अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध हिंसा आदि कर्मों से भी (अन्यत्र) अतीत अथवा पृथक् (च) तथा (अस्मात्) इस (कृताकृतात्) कार्य और कारणरूप जगत् से भी (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) भूतकाल से (भव्यात्) भविष्यत् काल से (च) तथा वर्तमान काल से [तीनों कालों से तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थों से भी] (अन्यत्र) पृथक् अथवा भिन्न (पश्यसि) देखते हो, उसी का उपदेश (वद) हमें भी दीजिये अथवा कहिये ।

व्याख्या—नचिकेता कहता है कि यम ! आप यदि मुझ से प्रसन्न हैं तो आप मुझे उस परम आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिये कि जो धर्म ओर अधर्म के सम्बन्ध से रहित तथा उनके शुभाशुभ फल से भी रहित है, कार्य एवं कारण रूप प्रकृति से पृथक् एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान कालों के बन्धन से भी रहित है ।

प्रथम वल्ली में नचिकेता ने जो तृतीय वर की याचना की थी उसमें उसने यह जानना चाहा था कि मरने के पश्चात् जीव का अस्तित्व रहता है वा नहीं ? किन्तु नचिकेता के उपर्युक्त कथन से दूसरा ही प्रश्न ज्ञात होता है और वह है परम-आत्म-तत्त्व विषयक प्रश्न । इस भाँति हम देखते हैं कि नचिकेता के जीवात्मा-विषयक प्रश्न के उत्तर में यमाचार्य ने परमात्मा का ही वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया है । इसका कारण यह है कि यमाचार्य पहले यह बतला देना उचित समझते हैं कि जीवात्मा किस भाँति हर्ष एवं शोक की भावनाओं से अपने को पृथक् कर पाता है ? हर्ष एवं शोक से रहित स्थिति जीवात्मा को कब प्राप्त होती है ? परम-आत्म-तत्त्व के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अनन्तर ही इस प्रकार की स्थिति जीवात्मा को प्राप्त होती है ।

अतः इस परम-आत्मतत्त्व का वर्णन भी यहाँ अभीष्ट हो गया था । इसी कारण उसका वर्णन यम ने किया है । अथवा यह भी संभव है "जिस मनुष्य को परमात्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा एवं विश्वास नहीं, उसका जीवत्मा के अस्तित्व पर विश्वास कैसे हो सकता है ?" इस दृष्टि से भी यम ने परमात्मा का वर्णन प्रथम करना उचित समझा हो ।

अब यम नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म-तत्त्व (परम-आत्म-तत्त्व) का उपदेश उसे प्रदान करते हैं :—

शां०—यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति—अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीय-द्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथान्यत्र अधर्मात्तथान्यत्रा-स्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्माद् अन्यत्र । किं चान्यत्र भूताच्चाति-क्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात् कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यद् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीत पश्यसि तद्वद मह्यम् ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

पद०—सर्वे । वेदाः । यत् । पदम् । आमनन्ति । तपांसि । सर्वाणि । च । यत् । वदन्ति । यत् । इच्छन्तः । ब्रह्मचर्यम् । चरन्ति । तत् । ते । पदम् । संग्रहेण । ब्रवीमि । ओम् । इति । एतत् ।

(सर्वे) सम्पूर्ण अर्थात् चारों (वेदाः) वेद (यत) जिस (पदम्) परम पद का अथवा परमात्मा का (आमनन्ति) प्रतिपादन अथवा कथन करते हैं (च) और (सर्वाणि) सम्पूर्ण [सब प्रकार के] (तपांसि) तप (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं [अर्थात् सम्पूर्ण तप जिसकी प्राप्ति के साधन हैं] (यत्, इच्छन्तः) जिसकी प्राप्ति की इच्छा रखने वाले साधकगण (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत का (चरन्ति) आचरण अथवा पालन करते हैं । (तत्) उस (पदम्) पद का [मैं] (ते) तुम्हारे लिये (संग्रहेण) संक्षेप में (ब्रवीमि) वर्णन करता हूँ (एतत्) यह (ओम्, इति) ओ३म् पद ही है ।

व्याख्या—यम नचिकेता से कहते हैं कि हे नचिकेता ! ऋक्, यजु, साम और अथर्व यह चारों वेद जिसका वर्णन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा धर्मानुष्ठान आदि जिस पद की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं, वह परमात्मा

का वाचक "ओ३म्" शब्द है ।

इस ओंकार के स्वरूप का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् के प्रारम्भ में भी निम्न प्रकार आता है :—

"ओमित्येतदक्षरमिद ५ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदितिसर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।" माण्डूक्य उप० पं० १ ।।

अर्थात् 'ओ३म्' यह अक्षर [अविनाशी परमात्मा] है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों प्रकार का यह जगत् (ब्रह्माण्ड) भी उसी ओङ्कार की महिमा का द्योतक है और जो ऊपर कहे गये तीनों कालों से अतीत दूसरा तत्त्व है वह सब भी ओङ्कार ही है।

इस भाँति इस मन्त्र में परमात्मा के सर्वोत्तम नाम ओ३म् का वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि 'ओ३म्' यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म अविनाशी परमात्मा है।

छान्दोग्य उपनिषद्—में भी इस ओङ्कार का वर्णन निम्न भाँति आता है :—

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" ।। छा० उ० पं० १ ।।

अर्थात् 'ओ३म्' जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी उचित है।

वस्तुतः परमात्मा का कोई एक नाम नहीं, वह तो अनेक नामों से समस्त विश्व में पुकारा जाता है। किन्तु उनके सभी नामों में 'ओ३म्' नाम ही सर्वश्रेष्ठ नाम माना गया है। इसी सर्वश्रेष्ठ नाम का वर्णन यम पुनः आगे करते हैं :-

[**शां०**—इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुम् इच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि। ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया। यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्य मोंशब्द-प्रतीकं च ।। १५ ।।]

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।१६।।

पद०—एतत् । हि । एव । अक्षरम् । ब्रह्म । एतत् । हि । एव । अक्षरम् । परम् । एतत् । हि । एव । अक्षरम् । ज्ञात्वा । यः । यत् । इच्छति । तस्य । तत् ।

(हि) निश्चितरूप से (एतत्) यह (अक्षरम्) अक्षर (एव) ही (ब्रह्म) ब्रह्म है । और (हि) निश्चित रूप से (एतत्, अक्षरम्, एव) यह अक्षर ही (परम्) परब्रह्म है अथवा सर्वश्रेष्ठ है । (एतत् एव) इस ही (अक्षरम्) अक्षर को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो (यत्) जिसकी (इच्छति) इच्छा करता है (तस्य) उसको (तत्) वही प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या—यह ओङ्कार ही तो परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है । परमात्मा के इसी स्वरूप को समझकर साधक उसके परमपद को प्राप्त कर लेता है । इसी के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से मानव जीवन के लक्ष्य की पूर्ति होती है । गीता में भी इस ओङ्कार का वर्णन निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

',ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ गीता १७।२३ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! ॐ, तत्, सत् यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी के द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्राह्मण [ब्रह्मवेत्ता] और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ।

अब इस 'ओम्' को ही उपास्य दृष्टि से सर्वोपरि अवलम्बन बतलाते हैं:—

शां०—अतः एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्धयेवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥१६॥]

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

पद०—एतत् । आलम्बनम् । श्रेष्ठम् । एतत । आलम्बनम । परम । एतत् । आलम्बनम् । ज्ञात्वा । ब्रह्मलोके । महीयते ।

(एतत्) यह ओङ्कार ही (श्रेष्ठम्) अत्युत्तम (आलम्बनम्) आलम्बन [सहारा] है। (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय ही (परम्) सर्वोपरि अथवा अन्तिम आश्रय है। (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) भलीभाँति ज्ञात कर अथवा समझकर [साधक पुरुष] (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (महीयते) पूजित अथवा आदृत होता है [अथवा महत्त्व का स्थान प्राप्त करता है]।

व्याख्या—यह ओङ्कार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के सब प्रकार के अवलम्बनों में सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है तथा यही अन्तिम आलम्बन है। अर्थात् इससे परे कोई और आलम्बन नहीं है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धा एवं विश्वास के साथ इस पर निर्भर रहता है वह निस्संदेह परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है।

परमात्मा के सर्वोत्तम 'ओङ्कार' रूप का वर्णन करने के अनन्तर अब यम नचिकेता के तृतीय प्रश्न के उत्तर में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं :—

[शां०—यत एवमतः—एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि। अपरस्मिश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥]

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्नायं बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

पद०—न। जायते। म्रियते। वा। विपश्चित्। न। अयम्। कुतश्चित्। न। बभूव। कश्चित्। अजः। नित्यः। शाश्वतः। अयम्। पुराणः। न। हन्यते हन्यमाने। शरीरे।

(अयम्) यह (विपश्चित्) ज्ञानी आत्मा (न, जायते) न तो उत्पन्न ही होता है और (वा न म्रियते) न मरता ही है। और (न) न यह (कुतश्चित्) किसी अन्य से ही उत्पन्न हुआ है तथा (न, कश्चित्) न इससे ही

कोई उत्पन्न (बभूव) हुआ है अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है। (अयम्) यह (अजः) अजन्मा (नित्यः) नित्य (शाश्वतः) सदा एक रस रहने वाला और (पुराणः) प्राचीन हैं अर्थात् क्षय एवं वृद्धि से रहित है। (शरीरे) शरीर के (हन्यमाने) नाश होने पर भी यह आत्मा (न, हन्यते) नाश नहीं होता।

व्याख्या—अर्थात् यह आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म लेता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य एवं पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता।

इसी भाव को गीता में मिम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है :—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥गीता०२।२०॥

[**शां०**—अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्य आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः। अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तृन्प्रति। अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषया इदमुच्यते—न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात् । किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद् बभूव। स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते, अयं तु शाश्वतोऽत एव पुरापि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥१८॥]

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते ॥१९॥

पद०—हन्ता। चेत्। मन्यते। हन्तुम्। हतः। चेत्। मन्यते। हतम्। उभौ। तौ। न। विजानीतः। न। अयम्। हन्ति। न। हन्यते।

(चेत्) यदि (हन्ता) मारनेवाला व्यक्ति (हन्तुम्) अपने को मारने

में समर्थ (मन्यते) मानता है और (चेत्) यदि (हतः) हनन किया गया हुआ व्यक्ति (हतम्) अपने को मारा गया (मन्यते) मानता है तो (तौ, उभौ) वे दोनों ही (न विजानीतः) [आत्मा के वास्तविक स्वरूप को] नहीं जानते हैं [क्योंकि] (अयम्) यह आत्मा (न, हन्ति) न तो किसी को मारता ही है और (न, हन्यते) न किसी के द्वारा मारा ही जाता है।

व्याख्या—वस्तुतः जब तक साधक पुरुष को अपनी नित्यता और निर्विकारिता आदि का ज्ञान नहीं हो जाता तथा जब तक वह शरीर आदि अनित्य पदार्थों से अपने को पृथक् नहीं समझ लेता है तब तक सांसारिक अनित्य पदार्थों के प्रति उसमें वैराग्य की भावना जागृत नहीं होती और फिर इसी कारण उसके अन्तःकरण (मन) में नित्य आत्म-तत्त्व के जांनने की इच्छा भी उद्‌भूत नहीं होती। आत्म-तत्त्व के ज्ञान के निमित्त इस प्रकार की अनुभूति का हो जाना आवश्यक है कि यह जीवात्मा, नित्य, चेतन तथा ज्ञान स्वरूप है, अनित्य एवं विनाशी शरीर और सांसारिक भोगों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः यह तो अनादि और अनन्त है। न तो इसका कोई कारण ही है और न कार्य ही। इसी कारण इसको जन्म, मरण आदि से रहित माना गया है। शरीर के नष्ट होने से इसका नाश नहीं होता। जो व्यक्ति इसको मारनेवाला अथवा मरने वाला समझते हैं वे वस्तुतः आत्मा के वास्तविक स्वरूप से पूर्णतया अनभिज्ञ ही हैं। उनकी बातों पर ध्यान देना भी मूर्खता है। वस्तुतः आत्मा न तो किसी को मारता है और न स्वयं मरता ही है।

गीता में भी इस भाव को निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया गया है:—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजनीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। गीता २।१९।।

अतः साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह सांसारिक अनित्य भोगों से अपने को पृथक् कर ले क्योंकि इनमें सुख की आशा करना मृगतृष्णामात्र है। और इस प्रकार अपनी आत्मा की नित्यता आदि के सम्बन्ध में विचार के अनन्तर नित्य, आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति करने अथवा अपने को परमात्मतत्त्व में लीन कर देने के लिये प्रयत्नशील रहे।

इस भाँति यम ने नचिकेता को आत्म-तत्त्व का उपदेश देकर उसके अन्तः-

करण में परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति की जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। अतः अब यम नचिकेता के प्रति परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं:—

[शां०—एवं भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ताचेद्यदिमन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनम् इति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहम् इत्युभावपि तौ न विजानीतः, स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य। श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१६॥]

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

पद०—अणोः। अणीयान्। महतः। महीयान्। आत्मा। अस्य। जन्तोः। निहितः। गुहायाम्। तम्। अक्रतुः। पश्यति। वीतशोकः। धातुप्रसादात्। महिमानम्। आत्मनः।

(अस्य) इस (जन्तोः) जीवात्मा के (गुहायाम्) हृदयरूपी गुफा में (निहितः) स्थित (आत्मा) परमात्मा (अणोः) सूक्ष्म से (अणीयान्) अतिसूक्ष्म और (महतः) महान् से भी (महीयान्) महान् है। (आत्मनः) परमात्मा की (तम्) उस (महिमानं) महिमा को (अक्रतुः) निष्काम कर्म करने वाला तथा (वीतशोकः) शोकरहित [कोई विरला साधक ही] (धातुप्रसादात्) परब्रह्म की कृपा से (पश्यति) देख पाता है।

व्याख्या—"अंगुष्ठमात्रो वै पुरुषः मध्ये हृदि यः तिष्ठति" अर्थात् हृदय के मध्यभाग में विद्यमान अंगूठे के बराबर स्थान में वह जीवात्मा (पुरि शेते इति पुरुषः—शरीर रूपी पुरी में निवास करने वाला जीवात्मा पुरुष कहलाता है) निवास करता है तथा सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा भी उस अंगुष्ठ-परिमाण हृदय के मध्यभाग में स्थित स्थान में रहता ही है किन्तु इस भाँति जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों की स्थिति एक ही स्थान पर विद्यमान रहने पर भी जीवात्मा उस परमात्मा को न तो देख ही पाता है तथा न उसका अनुभव ही कर पाता है। इसका एकमात्र कारण अज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति न

होना ही है। जिस भाँति मृग की नाभि में कस्तूरी रहा करती है, उसकी सुगन्धि से वह उसे चारों ओर वन में खोजता फिरता है किन्तु कहीं भी प्राप्त नहीं कर पाता है। क्योंकि उसे ज्ञान नहीं है कि वह कस्तूरी उसके शरीर में ही नाभिस्थल में स्थित है। इसी भाँति जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों मनुष्य के शरीर के अन्दर हृदयरूपी गुफा में स्थित [विद्यमान] हैं किन्तु अज्ञान के कारण जीवात्मा को उस परमात्मा का ज्ञान अथवा भान नहीं हो पाता है। वह तो मोहवश भोगों में भूला रहता है। किन्तु जो साधक पूर्व कथित विवेचन के आधार पर अपने आपको नित्य समझकर सब प्रकार के सांसारिक अथवा स्वर्गीय भोगों की कामना से रहित एवं शोकरहित बना लेता है वह परमात्मा की कृपा से उस परमात्मा के सर्वव्यापकता आदि गुणों का अनुभव कर लेता है वह समझ लेता है कि वह परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथा महान् से भी महान् है और इस भाँति उसकी महिमा को समझकर साक्षात्कार कर लेता है।

अब विरोधाभास अलंकार द्वारा उस परमात्मा का वर्णन यम करते हैं:—

शां०—कथं पुनरात्मानं जानाति इत्युच्यते—अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महत्तरः पृथिव्यादेः अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येन आत्मवत्संभवति। तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते। तस्माद् असावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात्। स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः। तदात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययम् अहमस्मीति साक्षाद्विजानाति। ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥]

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

पद०—आसीनः। दूरम्। व्रजति। शयानः। याति। सर्वतः। कः। तम्। मदामदम्। देवं। मत्। अन्यः। ज्ञातुम्। अर्हति।

वह परमेश्वर (आसीनः) बैठा हुआ होने पर भी (दूरं) दूर (व्रजति) चला जाता है, (शयानः) सोता हुआ होने पर भी (सर्वतः) सब ओर (याति) चला जाता है। (तम्) उस (मदामदम्) हर्ष एवं हर्षरहित दोनों ही प्रकार के रूपों वाले अथवा ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले (देवम्) देव को (मदन्यः) मुझसे भिन्न (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने में (अर्हति) समर्थ हो सकता है।

व्याख्या—वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति सर्वव्यापकता के कारण ही उस भगवान् की है। सर्वव्यापक होने के कारण वह एक स्थान पर स्थित होते हुए भी सर्वत्र गमन करता है। सोते हुए होने पर भी वह गतिशील है। आनन्द-स्वरूप होने के कारण उसे 'मद' तथा इन्द्रियजन्य हर्ष के न होने के कारण उसे 'अमद' भी कहा गया है। इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध रूपों को धारण करने वाले (वास्तव में अविरुद्ध) देव को मेरे सिवा [यम के अतिरिक्त] और कौन जान सकता है।

इस प्रकार उस ईश्वर की महिमा का अनुभव करने वाले व्यक्ति की क्या दशा होती है यह बतलाते हैं :—

[**शां०**—अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—आसीनोऽवस्थितोऽचल एवं सन् दूरं व्रजति। शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति? अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्ध-धर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति। करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मन आदिगतिषु तदुपाधिक-त्वाद् दूरं व्रजतीव। स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

पद०—अशरीरम् । शरीरेषु । अनवस्थेषु । अवस्थितम् । महान्तम् । विभुम् । आत्मानम् । मत्वा । धीरः । न । शोचति ।

वह परमात्मा (अनवस्थेषु) स्थिर न रहने वाले अर्थात् अनित्य एवं विनाशी (शरीरेषु) शरीरों में (अशरीरम्) शरीरहित रूप से (अवस्थितम्) नित्य रूप में स्थित है । उस (महान्तम्) महान् (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) बुद्धिमान् पुरुष (न, शोचति) शोक को प्राप्त नहीं होता है ।

व्याख्या—समस्त प्राणियों के शरीर अनित्य और विनाशशील हैं । इनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । इन सभी में वह परमात्मा समभाव से स्थित रहते हुए भी शरीररहित ही रहता है । इसी कारण उस परमात्मा को नित्य और अचल कहा गया है । इस प्रकार के उस परमात्मा को जान लेने के पश्चात् ज्ञानी पुरुष कभी किसी भी कारण से तनिक भी शोक की अनुभूति नहीं किया करता है । यही उस आत्म-ज्ञानी पुरुष की पहिचान है ।

फिर ऐसे आत्म-ज्ञानी साधक को वह परमात्मा कैसे प्राप्त होता है ? इसका कथन करते हैं :—

[**शां०**—तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्व-वस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्व-शङ्कायामाह—विभुं व्यापिनमात्मानम्—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शना-र्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ।। २२ ।।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ्स्वाम्[1] ।। २३ ।।

---

१. इसी प्रकार का ज्यों का त्यों मन्त्र मुण्डकोपनिषद् ३।२।३ में भी उपलब्ध होता है ।

पद०—न । अयम् । आत्मा । प्रवचनेन । लभ्यः । न । बहुना । श्रुतेन । यम् । एव । एषः । वृणुते । तेन । लभ्यः । तस्य । एषः । आत्मा । विवृणुते । तनूम् । स्वाम् ।

(अयम्) यह (आत्मा) परमात्मा (प्रवचनेन) पठन, पाठन अथवा केवल तत्सम्बन्धी ज्ञान के श्रवणमात्र से (न, लभ्यः) प्राप्त किये जाने योग्य नहीं है । और (न, मेधया) न केवल बुद्धि से तथा (न बहुना श्रुतेन) न केवल बार-बार शास्त्र के श्रवणमात्र से (लभ्यः) प्राप्त किये जाने योग्य है। (एषः) यह परमात्मा (यम्) जिस ज्ञानी साधक पुरुष को अधिकारी समझकर (वृणुते) स्वीकार कर लेता है, (तेन) उसके द्वारा (एव) ही (लभ्यः) वह प्राप्त करने योग्य है । (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (तस्य) उस साधक पुरुष के समक्ष (स्वाम्) अपने (तनूम्) यथार्थ स्वरूप को (विवृणुते) स्वयं ही प्रकाशित कर दिया करता है ।

व्याख्या—जो साधक पुरुष उस परब्रह्म परमात्मा के बारे में योग्य गुरुओं आचार्यों अथवा वेदादि शास्त्रों द्वारा श्रवण पठन आदि किया करता है और सुनने के पश्चात् उस पर भली भाँति मनन कर उस भगवान् की प्राप्ति के निमित्त ध्यान किया करता है, वही परमात्मा की प्राप्ति का सच्चा साधक है। उसके अन्दर संसार की किसी वस्तु अथवा पदार्थ के प्रति किसी भी प्रकार का किंचिद् मात्र भी मोह इत्यादि अवशिष्ट नहीं रह जाता है। और इस प्रकार साधन करते-करते क्रमशः उसकी एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब वह अपने शरीर को भी भूल जाता है । अपने शरीर सम्बन्धी किसी प्रकार सुख दुःख आदि का उसे तनिक भी अनुभव नहीं हुआ करता है । इस भाँति वह अपने को भूल जाता है और उसका एक मात्र लक्ष्य उस भगवान् का साक्षात्कार करना ही रह जाता है । ऐसा साधक पुरुष वस्तुतः भगवान् के साक्षात्कार अधिकारी हो जाता है । फिर ऐसे अधिकारी साधक पुरुष को प्राप्तकर भगवान् स्वयं ही उसके समक्ष अपने स्वरूप को प्रगट कर दिया करते हैं । इस प्रकार उस साधक-पुरुष को उस परब्रह्म परमात्मा के आनन्द की अनुभूति होने लगा करती है । और भौतिक शरीर की समाप्ति के अनन्तर वह भगवान् के उस परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति कर लिया करता है कि जो उसका एकमात्र अभीष्ट

लक्ष्य था। अतः यह कहना नितान्त सत्य है कि केवल श्रवण से अथवा केवल तर्क बुद्धि से अथवा नाना प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन करने मात्र से उस भगवान् की प्राप्ति नहीं की सकती है।

उस परमात्मा की प्राप्ति किसको नहीं हो पाती है? यह बतलाते हैं :—

[**शा०**—यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः॥ २३॥]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

पद०—न। अविरतः दुश्चरितात्। न। अशान्तः। न। असमाहितः। न। अशान्तमानसः। वा। अपि। अज्ञानेन। एनम्। आप्नुयात्।

(दुश्चरितात्) पापकर्मों से (न, अविरतः) जो हटा नहीं है वह (एनं) इस परमात्मा को (न) प्राप्त नहीं कर पाता। (अशान्तः) जिसका मन अशान्त है वह भी परमात्मा को (न) प्राप्त नहीं कर पाता। (असमाहितः) जिसका मन एवं इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं ऐसा पुरुष भी (न) उसे प्राप्त नहीं कर पाता। (वा) अथवा (अशान्तमानसः) जिसका मन सांसारिक तृष्णाओं में फँसा हुआ है (अपि) वह भी (न) उसे प्राप्त नहीं कर पाता। (प्रज्ञानेन) प्रकृष्ट आत्म-ज्ञान के द्वारा ही साधक-पुरुष (एनम्) इस परमात्मा को (आप्नुयात्) प्राप्त कर पाता है।

व्याख्या—जो पुरुष श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों द्वारा निषिद्ध पाप कर्मों से विरक्त होकर उनका त्याग नहीं कर सका है, जिसका मन परमात्मा को छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगों की ओर ही उन्मुख है, परमात्मा के प्रति विश्वास न होने के कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ एवं मन

उसके अधीन नहीं हो सकीं हैं ऐसा एकाग्रतारहित अशान्त मन वाला पुरुष

उस परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता। किन्तु जो पुरुष इन्द्रिय-लालसा से विरत, फल-कामना से रहित, आचारवान् एवं शमदमादि साधनों से समाहित चित्तवाला है वही उस परमात्मा की प्राप्ति का अधिकारी हो पाता है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ ज्ञान द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है।

उस परमात्म-तत्त्व का श्रवण कर तथा बुद्धि द्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता है, इस जिज्ञासा का समाधान करते हुये यम कहते हैं :—

शां०—किं चान्यत्—न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच् श्रुतिस्मृत्यविहितात्पाप-कर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितो-ऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्त-मानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्। यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानस-श्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

पद०—यस्य। ब्रह्म। च। क्षत्रम्। च। उभे। भवतः। ओदनः। मृत्युः। यस्य। उपसेचनम्। कः। इत्था। वेद। यत्र। सः।

संहार-काल में (यस्य) जिस ईश्वर के (ब्रह्म) ब्राह्मण (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय (च उभे) ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र ही (ओदनः) भोजन (भवतः) बन जाते हैं। तथा (मृत्युः) सबका संहार करने वाली मृत्यु भी (यस्य) जिस परमात्मा का (उपसेचनम्) उपसेचन अर्थात् भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने योग्य पदार्थ, शाक, चटनी आदि (भवति) बन जाया करती है, (सः) वह ऐसा परमात्मा (यत्र) जिस स्थान पर तथा (इत्था) जिस रूप में स्थित है ऐसा (कः) कौन (वेद) जान सकता है।

व्याख्या—मनुष्य शरीर में भी जो धर्म के उत्तरदायित्व से परिपूर्ण ब्राह्मण और धर्म के रक्षक क्षत्रिय गण हैं वे भी धर्म पर न चलने तथा धार्मिक नियमों एवं आचारों का पालन आदि न करने के कारण जिस परमेश्वर के भोजन बन

जाते हैं तब अन्य साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या ? अर्थात् इस भाँति प्राणिमात्र ही जिस परमात्मा के भोजन बन जाते हैं और मृत्यु भी स्वयं जिस भगवान् का शाक चटनी आदि बन जाती है, उस ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि समस्त प्राणियों और स्वयं मृत्यु के भी संहारक परमात्मा को भला कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा कैसे जान सकता है ?

कहने का तात्पर्य यह है कि वह कालरूप परमात्मा जिसके ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्राणिमात्र भोजन सदृश हैं और मृत्यु जिसका शाकस्थानीय है, जो इस भाँति रात-दिन इस चराचर ब्रह्माण्ड का भक्षण करता रहा करता है, ऐसे इस परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार आचरण भ्रष्ट अथवा सांसारिक भोग विलासों में संलग्न और अपने को इन्द्रियों के अधीन रखने पुरुष कभी भी नहीं कर सकता ।

[शां०—यस्त्वनेवं भूतः—यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्, सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धियथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयवल्ली समाप्ता ।

—:०:—

अथ प्रथमाध्याये तृतीयवल्ली

द्वितीय वल्ली में जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया कि जीवात्मा का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है। किन्तु परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का वर्णन वहाँ नहीं किया जा सका। इन साधनों का वर्णन अब इस तृतीय वल्ली में किया जायेगा।

सर्वप्रथम यम नचिकेता के समक्ष जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध उनके निवासस्थान आदि का वर्णन करते हुए दोनों के भेद का भी कथन करते हैं :—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

पद०—ऋतम् । पिबन्तौ । सुकृतस्य । लोके । गुहाम् । प्रविष्टौ । परमे । परार्धे । छायातपौ । ब्रह्मविदः । वदन्ति । पञ्चाग्नयः । ये । च । त्रिणाचिकेताः ।

(सुकृतस्य) शुभकर्मों के फलस्वरूप (लोके) मानव शरीर में (परमे) सर्वोत्कृष्ट (परार्धे) स्थान हृदयाकाश में तथा (गुहाम्) बुद्धिरूपी गुफा में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट [छिपे हुए] (ऋतम्) सत्य का (पिबन्तौ) पान करने वाले [दो १–जीवात्मा और २–परमात्मा] (छायातपौ) छाया और धूप के समान हैं, ऐसा (ब्रह्म विदः) ब्रह्म को जानने वाले ज्ञानी पुरुष (वदन्ति) कहते हैं। (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन बार अग्नि का चयन करने वाले (पञ्चाग्नयः) पाँच प्रकार के यज्ञ करने वाले गृहस्थ जन हैं, वे भी ऐसा ही कहते हैं।

व्याख्या—जो पञ्चाग्नि साधन करनेवाले अथवा पञ्चप्राणरूप पञ्च अग्नियों

की प्राणायाम द्वारा साधन करने वाले जो कर्मयोगी जन हैं तथा जो नाचिकेत

अग्नि, जो बुद्धि में रहती है, उसको माता, पिता एवं आचार्य द्वारा प्रदीप्त करने वाले ज्ञानयोगी जन हैं और जिन्होंने ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लिया है ऐसे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष—सभी आस्तिक जनों का कथन है कि यह मानव शरीर बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। पूर्वजन्मार्जित अनेक पुण्य कर्मों के फलस्वरूप यह मानव-योनि प्राप्त होती है। इस मानव-शरीर के सर्वोत्कृष्ट स्थान हृदय में विद्यमान आकाश में जीवात्मा निवास करता है (अङ्गुष्ठमात्रो वै पुरुषः मध्ये हृदि यः तिष्ठति) तथा परमात्मा भी सर्वव्यापक होने से उस हृदयाकाश में निवास करता है। इस भाँति दोनों (शरीररूपी पुरी में निवास करने वाला पुरुष—जीवात्मा तथा ब्रह्माण्डरूपी पुरी में निवास करने वाला पुरुष—परमात्मा) शरीर के सर्वोत्तम स्थान हृदयाकाश में निवास करते हुए सत्य का पान करते हैं अर्थात् शुभकर्मों के अवश्यम्भावी फल का भोग करते हैं। किन्तु दोनों के भोग में बड़ा अन्तर है। दोनों ही शरीर में स्थित रहने के कारण भोक्ता कहे गये हैं। परन्तु ईश्वर भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता है। क्योंकि वह मानव शरीर में स्वयं कर्म नहीं करता। वहाँ तो कर्म का कर्त्ता जीवात्मा है। अतः कर्मों के फलों का भोक्ता भी वही है। यहाँ यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि परमात्मा सत्य को पिलाने वाला अथवा शुभ कर्मों के फलों को भुगवाने वाला है और जीवात्मा सत्य का पान करता अथवा कर्मों के फलों को भोगने वाला है।[1] इस प्रकार एक साथ रहने पर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया

---

१. इसी भाव को ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र द्वारा भी अभिव्यक्त किया गया है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
ऋग्० १।१६४।४६ ॥

अर्थात् दो सुन्दर पक्षी परस्पर मित्र हैं, तथा दोनों समानवृक्ष (एक वृक्ष) का सेवन करते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष का मीठा फल खाता है और दूसरा फलों का भक्षण न कर प्रकाशता रहता है।

उपयुक्त रूपक द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये यह दिखलाया गया है। इन दोनों का निवास स्थान यह समस्त ब्रह्माण्ड है।

और धूप के सदृश भिन्न हैं। जीवात्मा-छाया के सामान स्वल्प-प्रकाश-युक्त अथवा अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप के सदृश पूर्ण प्रकाशयुक्त अथवा सर्वज्ञ है।

छाया और धूप का जो सम्बन्ध है वही जीवात्मा एवं परमात्मा का भी है। बिना धूप के छाया का वस्तुतः कोई भी अस्तित्व नहीं है। धूप के प्रकाश में ही छाया का अस्तित्व रहता है। इसी प्रकार परमात्मा के अस्तित्व के साथ जीवात्मा का अस्तित्व है। इस रहस्य को जानकर मनुष्य को अपने में किसी भी प्रकार की शक्ति, सामर्थ्य आदि का अभिमान नहीं करना चाहिये तथा सदैव अपने हृदय में निवास करने वाले सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी परमात्मा का चिन्तन करते रहना चाहिये क्योंकि उसी की प्राप्ति करना मानव जीवन का लक्ष्य है। यहाँ मनुष्य अथवा मानव से तात्पर्य जीवात्मा का है।

उपयुक्त विवेचन से दोनों के साम्य तथा वैषम्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। साम्य=दोनों का अस्तित्व है अर्थात् दोनों सत् हैं। दोनों चैतन्यस्वरूप हैं अर्थात् दोनों चित हैं। दोनों का सम्बन्ध आराध्य एवं आराधक का है। परमात्मा–आराध्य तथा जीवात्मा–आराधक है। वैषम्य=परमात्मा आनन्द-स्वरूप है तथा जीवात्मा उस आनन्द से रहित। परमात्मा सर्वज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ। जीवात्मा कर्म-फलों का भोक्ता है तथा परमात्मा उन कर्म-फलों का भुगवाने वाला है। जीवात्मा आवागमन (जन्म और मृत्यु) के बन्धन से युक्त है तथा परमात्मा सदैव एक-रस अथवा आवागमन के बन्धन से रहित है।

इस आवागमन के बन्धन से छुटकारा (मुक्ति) प्राप्त करने के साधन दो प्रकार के हैं—(१) कर्म (२) ज्ञान। कर्मकाण्ड के द्वारा मनुष्य स्वर्ग लोक की प्राप्ति कर सकता है तथा ज्ञानकाण्ड के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति। इन्हीं दोनों साधनों का वर्णन 'यम' करते हैं :—

[**शां०**—ऋतं पिबन्तावित्यस्या बल्लचा: सम्बन्धः—विद्याविद्ये नाना-विरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना,

---

इनमें से एक जीवात्मा इस वृक्षरूप ब्रह्माण्ड में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों का भोग न करता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।

तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् । एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृ गन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात् । कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः, तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन, सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतम् इति पूर्वेण सम्बन्धः, लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम् । तस्मिन् ह परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः । तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वा-संसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिः कृत्वोनाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणा-चिकेताः ।।१।।]

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥ २ ॥

पद०—यः । सेतुः । ईजानानाम् । अक्षरम् । ब्रह्म । यत् । परम् । अभयम् । तितीर्षताम् । पारम् । नाचिकेतम् । शकेमहि ।

(यः) जो अग्नि (ईजानानाम्) यज्ञादि कर्म करनेवाले लोगों का (सेतुः) सेतु है उस (नाचिकेतम्) नाचिकेताग्नि को (शकेमहि) हम जानें तथा (यत्) जो (पारम्) संसार-सागर से पार (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा रखने वालों का (अभयं) भय रहित साधन है उस (परं) सर्वोपरि (अक्षरं) नाशरहित (ब्रह्म) परमात्मा को भी हम (शकेमहि) जानने एवं प्राप्त करने में समर्थ हों ।

व्याख्या—उक्त श्लोक में संसार-सागर से पार होने के लिये दो प्रकार के साधनों का उल्लेख किया गया है—(१) कर्मकाण्ड (२) ज्ञानकाण्ड । कर्मकाण्ड—यज्ञादि कर्मों के द्वारा मानव संसार-सागर से पार होकर स्वर्ग लोक की प्राप्ति कर सकता है । ["स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि सिद्धान्तानुसार] किन्तु इसे कर्मजन्य होने के कारण संसार में पुनः भी आना पड़ता है । ज्ञानकाण्ड—जिसके द्वारा मानव परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है अर्थात् भगवान् के परमपद (मोक्षधाम) में पहुँचकर भगवान् के चिरन्तन आनन्द की अनुभूति किया करता है ।

भगवान् का यह परमपद किन साधनों द्वारा प्राप्त हो सकता है ? इसका वर्णन आगे किया जाता है :—

[शां०—यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं च शकेमहि शक्नुवन्तः । किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः । परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥]

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

पद०—आत्मानम् । रथिनम् । विद्धि । शरीरम् । रथम् । एव । तु । बुद्धिम् । तु । सारथिम् । विद्धि । मनः । प्रग्रहम् । एव । च ।

हे नचिकेता ! तुम (आत्मानम्) जीवात्मा को (रथिनम्) रथ का स्वामी [रथ में बैठ कर चलने वाला] (विद्धि) समझो । (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ समझो । (तु, बुद्धिम्) तथा बुद्धि को (सारथिम्) सारथि [रथको चलाने वाला] (विद्धि) समझो (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) लगाम समझो ।

[शां०—तत्र यः उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य यदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते—तत्र तत्रात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि । शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥]

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

पद०—इन्द्रियाणि । हयान् । आहुः । विषयान् । तेषु । गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् । भोक्ता । इति । आहुः । मनीषिणः ।

(मनीषिणः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों ने (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहा है और (विषयान्) इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषयों को (तेषु, गोचरान्) उन घोड़ों के विचरण करने का मार्ग बतलाया है। इस प्रकार इस (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोग करने वाला "भोक्ता" (इति आहुः) कहा गया है।

व्याख्या—अनन्तकाल से ही जीवात्मा परमात्मा से बिछुड़ा हुआ चला आ रहा है। वह इस संसार में सुख की खोज में है। सुख समझकर वह जहाँ भी जाता है, वहाँ धोखा खाता है। पूर्ण रूप से वह साधनहीन है। उसे सुख के साधनों का भी ज्ञान नहीं है। जब तक वह आनन्दस्वरूप भगवान् की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक उसे सुख एवं चिर-शान्ति कभी भी नहीं मिल सकती। जीवात्मा की इस दशा को देखकर परमात्मा ने उसे सर्वश्रेष्ठ मानव योनि प्रदान की, जो कि सर्वसाधनयुक्त है। इस प्रकार उस ईश्वर ने उस जीवात्मा को शरीररूपी रथ प्रदान किया। इन्द्रियरूपी बलवान् घोड़े दिये। उन घोड़ों को मनरूपी लगाम लगाकर बुद्धिरूपी सारथी के हाथों में उसे सौंप दिया। इस प्रकार के उस शरीररूपी रथ में जीवात्मा को बैठाकर तथा उस रथ का स्वामी बना कर यह भी बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करता रहे तथा भगवत्प्राप्ति विषयक श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के प्रशस्त मार्ग पर चलकर वह शीघ्र ही परमात्मा के परमपद तक पहुच जाय।

भगवान् द्वारा प्रदत्त साधनों का आश्रय यदि जीवात्मा प्राप्त करता तथा तदनुसार श्रवण, मनन आदि साधनों द्वारा अपने जीवन का निर्माण करता तो अवश्य-अवश्य ही वह इस संसार-सागर से पार होकर भगवान् के परमपद को प्राप्त कर लेता, जिसे मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य माना गया है। किन्तु वह ऐसा न कर सका। वह संसार में माया, मोह आदि के बन्धन में फँस गया। मन एवं इन्द्रियों का दास बन गया, उन पर विजय प्राप्त न कर सका। अतः वह जीवात्मा बुद्धि को प्रेरणा भी प्रदान न कर सका। परिणाम यह हुआ कि वह बुद्धिरूपी सारथि स्वयं असावधान हो गया। उसने मनरूपी लगाम को इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ों की इच्छा पर छोड़ दिया। इस प्रकार जीवात्मा

स्वयं विषयोन्मुख इन्द्रियों के अधीन हो गया और संसारचक्र में ही फँस गया। तात्पर्य यह है कि वह जिन शरीर, इन्द्रिय एवं मन के सहयोग से भगवत्प्राप्ति करता, उन्हीं शरीरादि के साथ युक्त होकर वह सांसारिक विषयोपभोगों की ओर लग गया।

उपर्युक्त मन्त्र में आत्मा को "भोक्ता" कहा गया है। अतः यहाँ भोक्ता शब्द को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

आत्मा जब शरीरयुक्त मन से संयुक्त होकर नेत्र से सम्बन्ध करता है तब वह रूप का भोग प्राप्त करता है। इसी भाँति वह अन्यान्य इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापित करके अन्यान्य विषयों का भोग करता है। इस प्रकार जब यह जीवात्मा शरीर, मन एवं इन्द्रियों से युक्त होता है, तब उसे "भोक्ता" कहा जाता है। वस्तुतः मन एवं इन्द्रिय आत्मा की अनुभूति के साधन हैं। अतः विना इनके सम्बन्ध को प्राप्त किये वह स्वयं किसी वस्तु आदि का भोग प्राप्त नहीं कर सकता।

उसकी इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों की ओर क्यों उन्मुख हो जाया करती हैं इसका कारण बतलाते हैं :—

[शां०—इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहु रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान् विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४।३।७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥]

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ४ ॥

पद०—यः। तु। अविज्ञानवान्। भवति। अयुक्तेन। मनसा। सदा।
तस्य। इन्द्रियाणि। अवश्यानि। दुष्टाश्वाः। इव। सारथेः।

(यः) जो (सदा) सदैव (अविज्ञानवान्) विवेकरहित बुद्धिवाला अज्ञानी पुरुष (अयुक्तेन मनसा) संशयग्रस्त मन से अथवा अवशीभूत मन से युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (सारथेः) असावधान सारथि के (दुष्टाश्वाः इव) दुष्ट घोड़ों के सदृश (अवश्यानि) वश में न रहने वाली हो जाया करती हैं।

व्याख्या—जो विज्ञान से रहित है, जिसका मन अपने अधीन नहीं है, उसकी इन्द्रियाँ उसके आधीन नहीं रहा करती हैं। परिणामस्वरूप उसकी दशा अशिक्षित तथा उच्छृङ्खल घोड़ों से युक्त रथ के सदृश हो जाया करती है। जिस रथ में इस प्रकार के अशिक्षित एवं उच्छृङ्खल तथा उन्मत्त और सारथि के आधीन न रहने वाले घोड़े जुते हों, वह रथ अवश्य ही किसी गढ्ढे में गिर जायेगा। इस प्रकार के रथ में स्थित रथी भी उसी के साथ गड्ढे में गिर जायेगा तथा अपने उद्दिष्ट स्थान तक न पहुँच सकेगा। इन्द्रियाँ विषयों में तभी फँसती हैं जब कि मन उनका साथ देता है। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगाम का सहारा होता है। पर इस लगाम को ठीक रखना सारथि की बुद्धि पर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि ज्ञानसम्पन्न स्वामी का आज्ञाकारी, अपने लक्ष्य पर सदा स्थिर रहने वाला मार्ग के ज्ञान से युक्त बलवान् तथा इन्द्रियरूपी घोड़ों को चलाने में दक्ष है तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके आधीन रहेंगे और इस प्रकार के रथी का रथ ठीक मार्ग पर चलता चला जायगा।

अब विवेकयुक्त बुद्धि वाले व्यक्ति की क्या दशा होती है, यह बतलाते हैं:—

[शां०—तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृतौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥]

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

पद०—यः । तु । विज्ञानवान् । भवति । युक्तेन । मनसा । सदा । तस्य । इन्द्रियाणि । वश्यानि । सदश्वाः । इव । सारथेः ।

(तु) किन्तु (यः) जो (सदा) सदा (विज्ञानवान्) विवेकशील बुद्धिवाला और (युक्तेन) अपने आधीन किये हुये (मनसा) मन से युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (सारथेः) सावधान सारथि के (सदश्वाः) अच्छे एवं शिक्षित घोड़ों के (इव) सदृश (वश्यानि) उसके आधीन रहा करती हैं।

व्याख्या—जो जीवात्मा विज्ञान से युक्त होता है, जिसका मन उसके वश में होता है, ऐसे व्यक्ति के इन्द्रियाँ स्वयं ही आधीन रहा करती हैं और वह ईश्वर सम्बन्धी पवित्र विषयों के सेवन में सदैव संलग्न रहा करता है। जिस वीर रथी के पास उत्तम रथ है, जिसका सारथि चतुर है तथा जिस रथ में शिक्षित एवं सारथि के आधीन रहने वाले घोड़े जुते हैं वह रथ अवश्य ही रथी को इष्ट स्थान पर पहुँचा दिया करता है।

जिसकी बुद्धि एवं मन आदि विवेक सम्पन्न तथा उसके आधीन नहीं हैं ऐसे असंयमी पुरुष की संसार में क्या गति होती है ? यह बतलाते हैं :—

[शां०—यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ।। ६ ।।]

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ।। ७ ।।

पद०—यः । तु । अविज्ञानवान् । भवति । अमनस्कः । सदा । अशुचिः । न । सः । तत् । पदम् । आप्नोति । संसारम् । च । अधिगच्छति ।

(यः) जो जीवात्मा (सदा) सदैव (अविज्ञानवान्) विवेकरहित अज्ञानी (अमनस्कः) अवशीकृतमन वाला (अशुचिः) अपवित्र आचरण वाला (भवति) रहता है, (सः) वह (तत्) उस (पदम्) परम-पद अथवा भगवान् के मोक्षधाम को (न) नहीं (आप्नोति) प्राप्त कर पाता है (च) और (संसारम्) जन्ममृत्युरूपी संसारचक्र को ही (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सदा विवेक से (करने योग्य एवं न करने योग्य कार्य के ज्ञान से) रहित तथा मन को अपने आधीन रखने में असमर्थ रहा करती है, जिसका मन असंयत अर्थात् उसके वश में नहीं है तथा जिसका विचार सदैव दूषित रहा करता है और जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचार की ओर उन्मुख रहा करती हैं—ऐसे बुद्धिहीन एवं मन तथा इन्द्रियों के आधीन रहने वाले मनुष्य का जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता है। परिणामस्वरूप ऐसा व्यक्ति जीवन के लक्ष्यीभूत भगवान् के उस परम पद को कभी भी नहीं प्राप्त कर पाता है और उसे अपने दुष्कर्मों के भोगने के निमित्त इस संसार सागर में ही बारंबार भटकते रहना पड़ा करता है। वह अनेक योनियों में जन्म लेता तथा मरण को प्राप्त हुआ करता है।

किन्तु जो संयमी पुरुष है, उसकी गति क्या होती है? अब यह कथन करते हैं :—

[**शां०**—तस्य पूर्वोक्तस्गाविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदफलमाह–यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोप्यगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥]

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदाशुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

पद०—यः। तु। विज्ञानवान्। भवति। समनस्कः। सदा। शुचिः। सः। तु। तत्। पदम्। आप्नोति। यस्मात्। भूयः। न। जायते।

(तु) किन्तु (यः) जो (विज्ञानवान्) विवेकशील बुद्धि से युक्त (समनस्कः) मन को अपने आधीन रखने वाला और (सदा) सदा (शचिः) पवित्र भावनाओं एवं आचरणों से युक्त (भवति) होता है, (सः तु) वह तो (तत्) उस (पदम्) भगवान् के परमपद को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है कि (यस्मात्) जहाँ से (भूयः) फिर (न जायते) उत्पन्न नहीं होना पड़ा करता है।

व्याख्या—जो व्यक्ति इस चञ्चल मन को अपने वश में कर लेता है, अर्थात् जिसके भाव तथा विचार अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र हैं ऐसा ज्ञानी पुरुष

परमात्मा को अथवा उसके आनन्द को अथवा परमपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसका जन्म एवं मरण अथवा आवागमन के बन्धन से छुटकारा हो जाता है। इसी का नाम मुक्ति अथवा मोक्ष है।

उपर्युक्त रथ के रूपक का उपसंहार करते हुये ज्ञानी पुरुष के परमपद प्राप्ति विषयक बात को पुनः स्पष्ट करते हैं :—

[शां०—यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान् इत्येतत्; युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पदाद् अप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥]

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

पद०—विज्ञानसारथिः । यः । तु । मनः । प्रग्रहवान् । नरः । सः । अध्वनः । पारम् । आप्नोति । तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् ।

(यः) जो (नरः) पुरुष (विज्ञानसारथिः तु) विवेकयुक्त बुद्धिरूपी सारथि वाला और (मनः प्रग्रहवान्) मनरूपी लगाम को अपने वश में रखने में समर्थ है (सः) वह (अध्वनः) संसाररूपी मार्ग के (पारम्) पार पहुँच कर (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (तत्) उस (परमम्) सर्वोपरि अथवा प्रसिद्ध (पदम्) परमपद अथवा मोक्ष-धाम को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—तीसरे मन्त्र से नवें मन्त्र तक—जिस रथ के रूपक की कल्पना की गयी है, उसमें इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि यह अतिदुर्लभ मानव-शरीर जिस जीवात्मा को अपने शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त हो गया है, उसे अपना सौभाग्य समझकर अपने जीवन को मानव जीवन की लक्ष्य-पूर्ति के निमित्त लगा देना चाहिए। यह शरीर अनित्य है, प्रतिक्षण यह विनाश की ओर बढ़ रहा है। अपने जीवन के इस अमूल्य समय को यदि पशुओं की तरह सांसारिक भोगों के भोगने में ही नष्ट कर दिया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि उस व्यक्ति को संसार के आवागमन अथवा जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते रहने के लिये विवश होना पड़ेगा। और इस भाँति

मानव-जीवन के लक्ष्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति वह कभी भी न कर सकेगा। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे। सांसारिक विषय-भोग-जनित क्षणिक सुखों की वास्तविक दुःखरूपता को समझकर उनके प्रति अपने को उदासीन कर ले तथा केवल शरीर-निर्वाह के लिये उपयुक्त कर्तव्य-कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ भगवद् विषयक ज्ञान का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन (अथवा चिन्तन अथवा ध्यान) करता रहे और इस भाँति ब्रह्म का [परम-आत्म-तत्त्व का] साक्षात्कार कर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर ले कि जो मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्वभाव से ही बलवान् इन्द्रियों को उनके प्रिय तथा अभ्यस्त असत्-मार्ग से किस प्रकार हटाया जाय ? अतः अब आगे इस विषय का तात्त्विक विवेचन करते हुए इन्द्रियों को असत्-मार्ग से हटाकर भगवान् की ओर लगाने के प्रकार का वर्णन करते हैं:—

[**शां०**—किं तत्पदमित्याह—विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥]

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

पद०—इन्द्रियेभ्यः । पराः । हि । अर्थाः । अर्थेभ्यः । च । परम् । मनः । मनसः । तु । परा । बुद्धिः । बुद्धेः । आत्मा । महान् । परः ।

(हि) निश्चित रूप से (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों की अपेक्षा (अर्थाः) उनके शब्दादि विषय (पराः) बलवान्, श्रेष्ठ अथवा सूक्ष्म हैं। (च) और (अर्थेभ्यः) शब्दादि विषयों की अपेक्षा (मनः) मन (परम्) प्रबल अथवा सूक्ष्म है। (मनसः तुः) मन से भी (बुद्धिः) बुद्धि (परा) बलवती अथवा सूक्ष्म है। (बुद्धेः) बुद्धि से (महान्, आत्मा) महत्तत्त्व (परः) श्रेष्ठ, बलवान् अथवा सूक्ष्म है।

व्याख्या—इस तथा अगले मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जीवात्मा के बाहर स्थूल-प्रकृति तथा अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म अथवा भगवान् है। स्थूल का क्रमशः त्याग करते हुये सूक्ष्मता की ओर चलने से ही ब्रह्म की प्राप्ति की जानी संभव है। इन्द्रियाँ, उनके विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्त्व और अव्यक्त (प्रकृति) एक दूसरे से क्रमशः सूक्ष्म हैं।

साधक पुरुष इनके क्रमशः त्याग के द्वारा (अर्थात् बहिर्मुखी वृत्ति की समाप्ति के द्वारा) अपने लक्ष्य की आधी मंजिल पार कर लेता है। तदनन्तर उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो जाती है और वह ब्रह्म की प्राप्ति (अथवा भगवान् के आनन्द की अनुभूति) की ओर चल पड़ता है।

[**शां०**—अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि—स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्म-तारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतया अधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदम् आरभ्यते—स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च। तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः। मनः शब्दवाच्यं मनसः आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात्। मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः, बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूत-सूक्ष्मम्। बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वात्। अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ १० ॥]

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

पद०—महतः। परं। अव्यक्तम्। अव्यक्तात्। पुरुषः। परः। पुरुषात्। न। परम्। किञ्चित्। सा। काष्ठा। सा। परा। गतिः।

(महतः) महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्) प्रकृति सूक्ष्म अथवा बलवती है। (अव्यक्तात्) उस प्रकृति की अपेक्षा (पुरुषः) परमात्मा (परः) श्रेष्ठ अथवा सूक्ष्म है। (पुरुषात्) उस परमात्मा से (परम्) सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ और बलवान् (किञ्चित्) कुछ भी (न) नहीं है। (सा) वही (काष्ठा) परम अवधि है और (सा) वही (परा गतिः) अन्तिम अवधि अथवा गति है।

व्याख्या—सबसे अधिक सूक्ष्म वह परमात्मा (ब्रह्म) ही है । वह कारण रूप प्रकृति की अपेक्षा सूक्ष्म है । उस परमात्मा से और अधिक सूक्ष्म कुछ भी नहीं है । इसकी प्राप्ति कर लेना ही मानवीय-पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की अन्तिम सीमा है ।

प्रकृति ही एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी ओर सम्पूर्ण जीव-समुदाय आकर्षित एवं मोहित होकर इसके वशीभूत हो जाते हैं । इस प्रकृति की ओर से अपने को हटा लेना ही साधक-जीवात्मा का मुख्य-कार्य है ।

व्याख्या—उक्त दोनों श्लोकों में परमात्मा को सर्वाधिक श्रेष्ठ, बलवान अथवा सूक्ष्म कहा गया है । श्रोत्र, रसना, चक्षु, घ्राण और त्वक् इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से इनके विषय शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, श्रेष्ठ, बलवान् अथवा सूक्ष्म हैं । इन विषयों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ, बलवान् अथवा सूक्ष्म है । मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा उसका कारण महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से भी श्रेष्ठ, बलवान् अथवा सूक्ष्म प्रकृति है । उस प्रकृति की भी अपेक्षा परमात्मा अत्यन्त श्रेष्ठ, बलवान् अथवा सूक्ष्म है । परमात्मा से श्रेष्ठ अथवा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है । वही अन्तिम सीमा है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति कर लेना ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है ।

अब यह बतलाते हैं कि ऐसे श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म परमात्मा को मनुष्य कैसे जान सकता है :—

[**शां०**—महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः । तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महाँश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह पुरुषान्न परं किञ्चिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् । अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तृणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (गीता ८ । २१, १२ । ६) इति स्मृतेः ॥ ११ ॥]

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

पद०—एष । सर्वेषु । भूतेषु । गूढ । आत्मा । न । प्रकाशते । दृश्यते । तु । अग्र्यया । बुद्ध्या । सूक्ष्मया । सूक्ष्मदर्शिभिः ।

(सर्वेषु) सभी (भूतेषु) प्राणियों में (गूढ) छिपा हुआ—सर्वव्यापक होने के कारण सभी प्राणियों के शरीरों में विद्यमान अथवा अन्तर्निहित (एष आत्मा) वह परमात्मा (न, प्रकाशते) प्रकाशित अथवा प्रत्यक्ष नहीं होता है अर्थात् स्थूल दृष्टि के द्वारा वह प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है । (तु) किन्तु (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शी पुरुषों के द्वारा ही (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (अग्र्यया) एवं तीक्ष्ण (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (दृश्यते) उसका प्रत्यक्ष किया जाया करता है । (गूढ+आत्मा=गूढोत्मा । द्र० 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' पा० सू० ६।३।१०९) ।

व्याख्या—सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में भी स्थित है । जीवात्मा भी वहाँ स्थित है (अङ्गुष्ठमात्रो वै पुरुषः मध्ये हृदि यः तिष्ठति) किन्तु वह भगवान् की स्थिति का अनुभव नहीं कर पाता । इसका एकमात्र कारण सांसारिक माया मोह का बन्धन है । अगर वह जीवात्मा अपने को इस बन्धन से पृथक् कर ले तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के निमित्त लग जाय । इन्द्रियों एवं अपने मन को वश में कर उनकी शक्ति को भगवान् की ओर लगा देवे तो इस प्रकार के सूक्ष्मबुद्धि वाले तत्त्वदर्शियों के द्वारा वह परमात्मा अवश्य प्रत्यक्ष करने योग्य होता है ।

अब परमात्मा के जानने का साधन अथवा प्रकार बतलाते हैं :—

[**शां०**—ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम् । कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ? नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण । तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य—एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामायाच्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः

परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्य मानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति तथा च स्मरणम्—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७।२५) इत्यादि। ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (क० उ० २ । १ । ४) "न प्रकाशते" (क० उ० १ । ३ । १२) इति च। नैतदेवम्। असंस्कृत-बुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतया अग्रयया अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया कैः ? सूक्ष्मदर्शिभिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥]

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

पद०—यच्छेत्। वाक्। मनसि। प्राज्ञः। तत्। यच्छेत्। ज्ञाने। आत्मनि। ज्ञानम्। आत्मनि। महति। नियच्छेत्। तत्। यच्छेत्। शान्ते। आत्मनि।

(प्राज्ञः) जिज्ञासु बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि वह (वाक्) वाणी आदि सभी इन्द्रियों को सब ओर से हटाकर (मनसि) मन में (यच्छेत्) लय कर दे अथवा मन के आधीन कर दे और (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के साधनभूत बुद्धि में (यच्छेत्) लय कर दे। (ज्ञानं) ज्ञानात्मा बुद्धि को (महति, आत्मनि) उसके कारण महत्तत्त्व में (नियच्छेत्) विलीन कर दे (तत्) उस महत्तत्त्व अथवा जीवात्मा को (शान्ते, आत्मनि) शान्तस्वरूप परमात्मा में (यच्छेत्) लय कर दे।

व्याख्या—जिज्ञासु मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि वह पहले वाक् आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि यह बाह्य विषयों की ओर गमन न करे। तदनन्तर जब मन में किसी प्रकार की बाह्य विषयों की ओर ले जाने की अभिलाषा न रहे तब मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में लय कर दे अर्थात् ज्ञानस्वरूपिणी निश्च यात्मिका बुद्धि की वृत्ति के अतिरिक्त मन की भिन्न सत्ता की अनुभूति न हो।-

जब इतना अभ्यास हो जावे तब इस ज्ञानात्मा बुद्धि को भी उसके कारणभूत महत्तत्त्व में लय कर दे। तत्पश्चात् महत्तत्त्व को उस शान्तिस्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे। अथवा जब जीवात्मा की ऐसी स्थिति हो जाय कि वह आत्मतत्त्व के सिवा अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता की अनुभूति न करे तब वह जीवात्मा अपने आपको शान्तस्वरूप परमात्मा में विलीन कर देवे।

कहने का तात्पर्य यह है कि वही उपासक अथवा जिज्ञासु-जन परमात्मा की प्राप्ति करने का अधिकारी हो सकता है, जो मन एवं इन्द्रियों से परे परमात्मा को जानता हुआ इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि इनमें से एक-एक को छोड़ता हुआ अपने स्वरूपभूत ज्ञान का अनुभव करता है। पुनः उस ज्ञान के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति करने में समर्थ होता है।

अब परमात्मा की प्राप्ति को अत्यन्त पुरुषार्थसाध्य कथन करते हैं :—

[शां०—तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी; किम् वाग्वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व ? मनसी। मनसीतिच्छान्दसं दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि। बुद्धिर्हि मन आदिकरणान्यप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः। तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥]

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

पद०—उत्तिष्ठत। जाग्रत। प्राप्य। वरान्। निबोधत। क्षुरस्य। धारा। निशिता। दुरत्यया। दुर्गम्। पथः। तत्। कवयः। वदन्ति।

हे मनुष्यो ! (उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो [अज्ञान-निद्रा को त्यागकर ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उद्यत हो जाओ] (वरान्) श्रेष्ठ विद्वानों को (प्राप्य) प्राप्त कर (निबोधत) उस परब्रह्म परमेश्वर को जान लो, क्योंकि (कवयः) ज्ञानीजन (तत्) उस तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान के

(पथः) मार्ग को (क्षुरस्य) छुरे की (निशिता) तीक्ष्ण (दुरत्यया) एवं अति कठिन (धारा) के सदृश (दुर्गम) कठिनता से प्राप्त करने योग्य (वदन्ति) बतलाते हैं ।

व्याख्या—हे मनुष्यो ! तुम अनेक जन्मों से अज्ञान-निद्रा में सो रहे हो । किन्हीं सुकर्मों के फलस्वरूप तुमको यह मनुष्य-योनि प्राप्त हो गई है । इस सर्वोत्तम योनि को प्राप्त कर अपना एक क्षण भी निरर्थक मत करो । अतः सावधान-चित होकर श्रेष्ठ विद्वानों की संगति प्राप्तकर उनके उपदेश द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का ज्ञान प्राप्त कर लो । यह परमात्मा अथवा तत्त्वज्ञान का मार्ग छुरे की धार के सामान अति कठिन है । छुरे की धार अति कठिन तथा तीक्ष्ण होती है, उसके स्पर्शमात्र से ही छेदन अथवा कट जाने का भय रहता है । उसपर चलना अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार परमात्म-प्राप्ति का मार्ग भी है । रागादि से युक्त अनेक प्रकार के विषयों की अभिलाषाओं का उल्लंघन कर तत्त्वपद को प्राप्त करना अति कठिन है अतः हे जिज्ञासु पुरुषों ! तुम सावधान-चित्त होकर उत्तम उपदेश देने वाले विद्वानों का सत्संग प्राप्त कर अज्ञान का परित्याग करते हुए ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा उस परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त संलग्न हो जाओ ।

अब मनुष्य परमात्मा के स्वरूपज्ञान को प्राप्त कर किस भाँति मृत्यु से निवृत्ति प्राप्त कर लेता है ? इसका कथन करते हैं :—

[**शां०**—एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञान-विजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगन-मलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थऽप्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत । हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् ? प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत् । अति-सूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिः इत्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रे निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यमित्येतद् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं

कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ।। १४ ।।]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।। १५ ।।

पद०—अशब्दम् । अस्पर्शम् । अव्ययम् । तथा । अरसम् । नित्यम् । अगन्धवत् । च । यत् । अनादि । अनन्तम् । महतः । परम् । ध्रुवम् । निचाय्य । तम् । मृत्युमुखात् । प्रमुच्यते ।

(यत्) जो परमात्मा (अशब्दम्) शब्दरहित (अस्पर्शम्) स्पर्श रहित (अरूपम्) रूपरहित (तथा) तथा (अरसं) रसरहित (च) और (अगन्धवत्) गन्धरहित (अव्ययम्) विकाररहित (नित्यम्) नित्य (अनादि) आदिरहित (अनन्तम्) अनन्त (महतः परं) महत्तत्त्व से भी परे (ध्रुवम्) अचल है । (तम्) उस ईश्वर को (निचाय्य) जानकर मनुष्य (मृत्युमुखात्) मृत्यु के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में उस परमात्मा को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित कथन किया गया है । इसका भाव यह है कि सांसारिक विषयों को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है । वह नित्य, अविनाशी, अनादि और सीमारहित है । ऐसे परमात्मा को प्राप्त करने पर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट पाता है, अन्यथा नहीं । तात्पर्य यह है कि ऐसे भगवान् को प्राप्त करने पर मनुष्य जन्म एवं मृत्यु अथवा ससार में आवागमन के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेता है ।

यजुर्वेद का निम्नलिखित मन्त्र भी इसी भावना का पोषक है :—

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
> तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।
>
> (यजु० ३१।१८)

अब निम्नलिखित दो श्लोकों में [illegible] के श्रवण एवं वर्णन करने

का परिणाम कथन करते हैं :—

[शां०—तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्य इत्युच्यते, स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यम् इत्येतद्दर्शयति श्रुतिः—अशब्दमस्पर्शमपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्। एतद् व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्—यद्धि शब्दादिमत्तद् व्येतीदं तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यम्। यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्। इतश्च नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदिः कारणम् अस्य तदिदमनादि। यद्धयादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि। इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यम्। न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत। तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः, अतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तत्त्वाद् बुद्धयाख्यातपरं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद् ब्रह्म। उक्तं हि—"एष सर्वेषु भूतेषु" (क० उ० १। ३। १२) इत्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥]

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

पद०—नाचिकेतम्। उपाख्यानम्। मृत्युप्रोक्तम्। सनातनम्। उक्त्वा। श्रुत्वा। च। मेधावी। ब्रह्मलोके। महीयते ॥

(नाचिकेतम्) नचिकेतासम्बन्धी (मृत्युप्रोक्तम्) यम द्वारा कहे गये हुए इस (सनातनम्) प्राचीन (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा) कहकर अर्थात् उसका वर्णन कर (च) और (श्रुत्वा) श्रवण करके (मेधावी) विद्वान् पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (महीयते) पूजित होता है अर्थात् आदर को प्राप्त किया करता है।

व्याख्या—जो जिज्ञासुजन भक्ति और श्रद्धापूर्वक यम द्वारा कथित एवं

नचिकेता द्वारा प्राप्त तथा वैदिक होने के कारण प्राचीन इस उपदेशात्मक आख्यान को सुनते-सुनाते अथवा पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानियों के मध्य अथवा ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं।

[शां०—प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥]

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
[1]तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

पद०—यः । इमम् । परमम् । गुह्यम् । श्रावयेत् । ब्रह्मसंसदि । प्रयतः । श्राद्धकाले । वा । तत् । आनन्त्याय । कल्पते । तत् । आनन्त्याय । कल्पते । इति ।

(यः) जो पुरुष (प्रयतः) शुद्ध मन और जितेन्द्रिय होकर (इमम्) इस (परमम्) अत्यधिक (गुह्यम्) रहस्यमय आख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों की सभा में (वा) अथवा (श्राद्धकाले) श्राद्धकाल में (श्रावयेत्) सुनाता है। (तत्) (उसका) वह श्रवण कराना रूप कर्म उस पुरुष को (आनन्त्याय) अनन्त फल की प्राप्ति के लिये (कल्पते) समर्थ होता है।

व्याख्या—जो मनुष्य जितेन्द्रिय एवं पवित्र मन होकर इस रहस्यमय आख्यान को ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है, उसका वर्णनरूप यह कर्म उसे भगवत्-प्राप्ति में सहायक होता है अर्थात् वह व्यक्ति अपने ज्ञान द्वारा उस ब्रह्म की प्राप्ति में समर्थ होता है।

अध्याय के अन्त में दी गई "तदानन्त्य कल्पते" वाक्य की पुनरावृत्ति

१. द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिसूचिका ।

इस अध्याय में वर्णित सिद्धान्त की निश्चितता एवं अध्याय की समाप्ति का द्योतक है।

इति श्रीमदाचार्य-सुरेन्द्र देवशास्त्रिणः कृते कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्

[शां०—यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेत् ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्रह्मसंसदि ब्राह्मणानां संसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते। द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥]

इति श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्।

— :o: —

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

—: ❀ :—

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली

आत्मदर्शन में विघ्न, इन्द्रियों की बहिर्मुखता

['सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह अन्तरात्मा प्रकाशित नहीं होता। उसका प्रत्यक्ष तो केवल एकाग्रता से युक्त तथा सूक्ष्मवस्तु के दर्शन में संलग्न तीव्र बुद्धि के द्वारा ही किया जाता है।' इसका कथन पहले (१।३।१२ में) किया जा चुका है। अब यह देखना है कि इस प्रकार की एकाग्रतापूर्ण सूक्ष्म-बुद्धि के निर्माण में ऐसा कौन सा विघ्न आ उपस्थित होता है जिसके कारण आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इसी उद्देश्य से इस अध्याय में प्रथमवल्ली का प्रारम्भ किया जा रहा है।

जब मनुष्य श्रेय की प्राप्ति का इच्छुक हो जाता है तो उसकी प्राप्ति में आ उपस्थित होने वाले विघ्नों को जान लेना भी उसके लिए आवश्यक हो जाता है। ताकि वह उन विघ्नों का निराकरण कर सके तथा श्रेय की प्राप्ति के मार्ग पर चलकर आत्मसाक्षात्कार करने में सफलता प्राप्त कर सके।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पद०—पराञ्चि। खानि। व्यतृणत्। स्वयम्भूः। तस्मात्। पराङ्। पश्यति। न। अन्तरात्मन्। कश्चित्। धीरः। प्रत्यगात्मानम्। ऐक्षत्। आवृत्तचक्षुः। अमृतत्वम्। इच्छन्।

(स्वयम्भूः) परमेश्वर ने [स्वयं भवतीति], (खानि) इन्द्रियों को, (पराञ्चि) बहिर्मुख [पराणि बाह्यवस्तूनि अञ्चन्ति गच्छन्ति इति पराङ्मुखानि] (व्यतृणत्) बनाया है। (तस्मात्) इसी कारण मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को, (पश्यति) देखता है, (अन्तरात्मन्) अन्दर के आत्मा को (न पश्यति) नहीं देखता है। (कश्चित्) कोई (धीरः) धीर बुद्धिमान् पुरुष (अमृतत्वम्) अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (आवृत्तचक्षुः) सभी विषयों से अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों को हटाकर [अर्थात्

उनका संयम करके] (प्रत्यगात्मानम्) अन्तर्यामी ब्रह्म के स्वरूप का (ऐक्षत्) प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार करता है ।

व्याख्या—बाहर की ओर गमन करने के कारण इन्द्रियों को 'पराञ्चि' कहा गया है । ये इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों के प्रकाशनार्थ बहिर्मुख होकर ही प्रवृत्त हुआ करती हैं । इस भाँति इन्द्रिय-समूह ही अन्तःकरण [अर्थात् अन्दर की इन्द्रिय (मन) को अपनी ओर खींचकर बाह्य विषयों में उस (मन) को लगाते हुए अन्तरात्मा से विमुख कर देती हैं । अतः ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही मन को आत्मा से विमुख करने में कारण हैं । स्वभाव से ही बाह्य विषयों को ग्रहण करने वाली होने के कारण इन्द्रियाँ ही आत्मा को बन्धन की दशा की ओर ले जाया करती हैं । ऐसी स्थिति में इन इन्द्रियों के अधीन होकर चलने वाला पुरुष केवल बाह्यविषयों का ही दर्शन कर पाता है, अन्तरात्मा का नहीं । किन्तु बुद्धिमान् पुरुष अपनी इन्द्रियों को बाह्यविषयों की ओर जाने से रोक लेता है अर्थात् वह यम और नियम के द्वारा बाह्य इन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय को वशीभूत करना सीखता है, आसन द्वारा शरीर में धृति को उत्पन्न करता है तथा प्राणायाम द्वारा मन की धृति को प्राप्त कर लेता है । तत्पश्चात् धीर शब्द-वाच्य होकर अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर प्रत्याहार की सिद्धि के द्वारा अपने को इन्द्रियों के बलात्कार से बचा लेता है और फिर धारणा-साधन के द्वारा अन्तर्जगत् में ही अग्रसर होता है । इसके अनन्तर ध्यान के द्वारा आत्म-स्वरूप की खोजकर समाधि-द्वारा उसका (आत्म-स्वरूप का) प्रत्यक्ष कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है ।

अब धीर और अधीर पुरुष में क्या अन्तर है ? इसका वर्णन करते हैं—

[शां०—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्येत्युक्तम्। कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्रचया बुद्धया येन तदभावाद् आत्मा न दृश्यत इति तददर्शन-कारणप्रदर्शनार्था वल्लयारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेय-प्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति । खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषय-

प्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिसितवान् हनन्

कृतवान् इत्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवं स्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते । 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥' (लिङ्ग० १ । ७०।९६) इत्यात्माशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मनं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालनियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते । आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुःश्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मनं पश्यति । न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इत्युच्यते; अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥]

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

पद०—पराचः । कामान् । अनुयन्ति । बालाः । ते । मृत्योः । यन्ति । विततस्य । पाशम् । अथ । धीराः । अमृतत्वम् । विदित्वा । ध्रुवम् । अध्रुवेषु । इह । न । प्रार्थयन्ते ।

(बालाः) मूढ़ अथवा अविवेकी [अज्ञानी] पुरुष (पराचः) बाह्य (कामान्) विषयों का अनुसरण करते हैं अर्थात् उन्हीं में लिप्त हो जाते हैं । (ते) वे (विततस्य) विस्तृत अथवा बहुकालव्यापी (मृत्योः) मृत्यु के (पाशं) बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं । (अथ) और (इह) लोक में (धीराः) विवेकी, ज्ञानी अथवा विद्वान् पुरुष (ध्रुवम्) निश्चितरूप से (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (अध्रुवेषु) नश्वर सांसारिक विषयों में (न प्रार्थयन्ते) उस आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते हैं ।

व्याख्या—अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयों में ही लिप्त रहते हैं। ये विषय थोड़े समय तक रहने वाले हैं और बाद में नष्ट हो जाते हैं, अत एव क्षणस्थायी और नश्वर हैं। इनके द्वारा क्षणिक सुख की उपलब्धि हुआ करती है। ये क्षणिक सुख की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले लोग मृत्यु के विस्तृत जाल में जकड़े जाते हैं अर्थात् ये लोग निरन्तर जन्म-मरण, वृद्धावस्था और रोग आदि अनेक अनर्थसमूह को प्राप्त करते हैं। किन्तु ज्ञानी पुरुष, जो अपनी ज्ञानदृष्टि से सांसारिक (बाह्य) विषयों के परिणामों को निरन्तर देखा करते हैं, इन अनित्य विषयों अथवा पदार्थों में सुख-बुद्धि की इच्छा कभी भी नहीं किया करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि ये सब तो आत्म-दर्शन के विरोधी ही हैं। तात्पर्य यह है कि वे पुत्र वित्त (धन, धान्य इत्यादि), वनिता (स्त्री) तथा लोकेषणा [सांसारिक यश की प्राप्ति की इच्छा इत्यादि] से अपने को सदैव पृथक् अथवा दूर रखा करते हैं। इसके विपरीत में भगवान् के वास्तविक आश्रय से उस ध्रुव पद की इच्छा किया करते हैं कि जहाँ पुरुष शोक, मोह, भय तथा दुःखादि से सर्वथा रहित होकर स्वतन्त्ररूप से विचरण किया करता है।

अब आतमतत्त्व का वर्णन करते हुए यमाचार्य नचिकेता द्वारा पूछे गये (कि मरने के पश्चात् क्या शेष रह जाता है ?) प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

[**शां०**—यत्तावत्स्वाभाविकं परागेव अनात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वात्। या च पराक्ष्वेवाविद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—पराचो बहिर्गतानेन कामान् काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्म वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० उ० ४।४।२३) इति ध्रुवम्। तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्य-

ममृतत्वं विदित्वाध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्ये निधर्यि ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये

न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ।। २ ।।]

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शा्ँश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ।।३।।

पद०—येन । रूपं । रसं । गन्धं । शब्दान् । स्पर्शान् । च । मैथुनान् । एतेन । एव । विजानाति । किम् । अत्र । परिशिष्यते । एतत् । वै । तत् ।

(येन) जिस (एतेन) आत्मा के विद्यमान रहने पर (एव) ही प्राणी (रूपं, रसं, गन्धं, शब्दान्, स्पर्शान्) रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श (च) और (मैथुनान्) मैथुन को (विजानाति) जानता है। मरने के अनन्तर (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । (एतत्) यह (वै) निश्चित रूप से (तत्) वही है कि जिसके बारे में तुमने पूछा था।

व्याख्या—वस्तुतः इन्द्रियाँ ज्ञान के प्राप्त करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। वे आत्मा की सत्ता से ही अपने-अपने नियत विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। जब यह आत्म-शक्ति इन्द्रियसमूहरूप शरीर से पृथक् हो जाती है तब कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मरने के पश्चात् विशुद्ध चैतन्य आत्मा ही रह जाता है, अन्य कुछ नहीं।

इसी प्रसङ्ग में अब यमाचार्य परमात्मा-तत्त्व का स्वरूप कथन करते हैं:—

[**शां०**—यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदाधिगम इत्युच्यते—येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनामैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः । ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति तस्माद् देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेन्व विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति

सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते। सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्। यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकत्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ३ ॥]

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

पद०—स्वप्नान्तम्। जागरितान्तम्। च। उभौ। येन। अनुपश्यति। महान्तम्। विभुम्। आत्मानम्। मत्वा। धीरो। न। शोचति।

(येन) जिस [आत्मा] के द्वारा (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था में जानने योग्य (च) और (जागरितान्तम्) जाग्रत अवस्था में जानने योग्य (उभौ) इन दोनों विषयों को (अनुपश्यति) देखता है उस (महान्तम्) महान्, (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) बुद्धिमान् पुरुष (न शोचति) शोक को प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या—इस सम्पूर्ण चराचर (जड़ एवं चेतन) जगत् (संसार) के सभी व्यवहार (कार्य इत्यादि) स्वप्न तथा जागरित अवस्थाओं के भीतर ही हुआ करते हैं। परमात्मा इन सब व्यवहारों का साक्षी है। ऐसे उस महान् और सर्वव्यापक आत्म-तत्त्व के ज्ञान को प्राप्त कर ज्ञानी पुरुष शोक आदि से रहित (मुक्त) हो जाता है। अर्थात् उसे विश्वास हो जाता है कि इस शरीर के नाश से उस आत्मा का नाश नहीं होता है। ऐसा विश्वास हो जाने पर उसके शोक सम्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

[**शां०**—अतिसूक्ष्मत्वाद् दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह— स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च, उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येन आत्मनानुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत्। तं महान्तं विभुमात्मानं मत्त्वावगम्यात्मभावेन साक्षात्

अहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ।। ५ ।।

पद०—यः । इमम् । मध्वदम् । वेद । आत्मानम् । जीवम् । अन्तिकात् । ईशानम् । भूतभव्यस्य । न । ततः । विजुगुप्सते । एतत् । वै । तत् ।

(यः) जो व्यक्ति (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल के भोक्ता (जीवम्) जीवात्मा को (भूतभव्यस्य) भूत एवं भविष्यत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (अन्तिकात्) समीप से (वेद) जानता है वह ज्ञानी पुरुष (ततः) उस ज्ञान के होने से (न विजुगुप्सते) निन्दा को प्राप्त नहीं होता है । (एतद् वै तत्) यह वही आत्मतत्त्व है कि जिसके बारे में नचिकेता ने पूछा था ।

व्याख्या—जो पुरुष इस कर्मफल भोगनेवाले जीवात्मा को समझकर भूत-भविष्यत् जगत् के स्वामी परब्रह्म-परमात्मा को जान लेता है वह निन्दा अथवा तिरस्कार को प्राप्त नहीं होता है ।

अब उस परमात्मा का प्रकारान्तर से वर्णन करके उसके स्वरूप का विशद वर्णन करते हुए यमाचार्य नचिकेता को समझाते हैं :—

[**शां०**—किं च यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादि-कलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकादन्तिके समीप ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् । यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत् । एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥]

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

पद०—यः । पूर्वम् । तपसः । जातम् । अद्भ्यः । पूर्वम् । अजायत । गुहाम् । प्रविश्य । तिष्ठन्तम् । यः । भूतेभिः । व्यपश्यत । एतत् । वै । तत् ।

(यः) जो (तपसः) इस चराचरात्मक संसार से (पूर्वम्) पहले ही (अजायत) उत्पन्न हो चुका था अर्थात् विद्यमान था । जो (अद्भ्यः) जल

इत्यादि पञ्चभूतों से (पूर्वम्) पहले ही (अजायत) उत्पन्न हो चुका था अर्थात् विद्यमान था। ऐसे उस परमात्मा को (यः) मोक्ष की इच्छा रखने वाला जो व्यक्ति (गुहाम्) सभी प्राणियों के हृदयरूपी गुफा में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (भूतेभिः) सभी प्राणियों के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित (व्यपश्यत) देखता है (एतद्वै तत्) वही यह है।

व्याख्या—वस्तुतः परमात्मा चराचरात्मक सृष्टि से तथा पंचभूतों की स्थूल रचना से पूर्व ही विद्यमान रहता है क्योंकि वह तो नित्य है अतः अविनाशी है। प्रलयकाल में भी उसका नाश नहीं होता। वह सर्वदा विद्यमान रहता है (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।) ! सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् वह सभी प्राणियों के हृदयरूपी गुफा में स्थित होकर प्राणियों के साथ (सर्वव्यापक होने से) विराजमान रहा करता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति अपने हृदयाकाश में उसका साक्षात्कार कर लिया करते हैं। यही उस परम आत्मतत्त्व का स्वरूप है।

अब उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करनेवाली बुद्धि का वर्णन करते हैं :—

[**शां०**—यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद् ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्राय अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत्। य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥]

या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत् ॥७॥

पद०—या। प्राणेन। सम्भवति। अदितिः। देवतामयी। गुहाम्। प्रविश्य। तिष्ठन्तीम्। या। भूतेभिः। व्यजायत। वै। एतत्। तत्।

(देवतामयी) प्रकाशयुक्त (अदिति) अज्ञान की विनाशिका (या)

जो बुद्धि (प्राणेन) प्राण से (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो

(तिष्ठन्ती) स्थित रहती हुयी (गुहां प्रविश्य) हृदयरूपी गुफा में प्रविष्ट होकर (भूतेभिः) प्राणियों के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है। (एतद्वै तत्) यह वही सूक्ष्मबुद्धि है (कि जिसके द्वारा आत्मतत्त्व जाना जा सकता है)।

व्याख्या—प्राणायाम इत्यादि अनेकविध साधनों के द्वारा अन्तःकरण की जब शुद्धि हो जाया करती है तब उस समय दिव्य-शक्ति-सम्पन्न सत्त्वगुण प्रधान प्रतिभा जाग्रत हो जाया करती है। इस प्रकार की प्रतिभा द्वारा ज्ञानी पुरुष उस आत्मतत्त्व को जान लेने में समर्थ हुआ करते हैं।

अब उस परम आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए यमाचार्य कह रहे हैं :—

[शां०—किं च—या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भ-रूपेण परस्माद् ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम्। तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत् ॥ ७ ॥]

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः।
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

पद०—अरण्योः। निहितः। जातवेदाः। गर्भः। इव। सुभृतः। गर्भिणीभिः। दिवे दिवे। ईड्यः। जागृवद्भिः। हविष्मद्भिः। मनुष्येभिः। अग्निः। एतत्। वै। तत् ॥

व्याख्या—प्राणायाम इत्यादि अनेकविध साधनों के द्वारा अन्तःकरण (गर्भः, इव) गर्भ के समान तथा (अरण्योः) दो अरणियों के बीच में (निहितः) व्याप्त अथवा विद्यमान (जातवेदाः, इव) अग्नि के सदृश वह (अग्निः) परमात्मा (जागृवद्भिः) जागरणशील योगियों के द्वारा तथा (हविष्मद्भिः, मनुष्येभिः) यज्ञादि करनेवाले कर्मकाण्डी मनुष्यों के द्वारा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है। (एतत्) यही (वै) निश्चय करके (तत्) वह परमात्मतत्त्व है।

व्याख्या—जिस भाँति दो अरणियों के मध्य अग्नि विद्यमान रहने पर भी बिना घर्षण किये प्रकट नहीं हुआ करती है, उसी भाँति हृदयरूपी गुफा में

विराजमान होने पर भी वह परमात्मा योगाभ्यास आदि साधनों के बिना जाना नहीं जा सकता है। जिस प्रकार स्त्रियाँ गर्भाशय में विद्यमान गर्भ की स्थिति को समझकर प्रतिदिन यत्नपूर्वक उसका धारण-पोषण किया करती हैं। उसी प्रकार पुरुष को भी चाहिये कि वह यह ध्यान करते हुए कि परमात्मा मेरे हृदयरूपी गुफा में स्थित है, अपने मन को स्थिर एवं एकाग्र करते हुए सदैव उसका चिन्तन किया करे।

[शां०—किं च–योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योः निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत्। किं च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत् हविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैः अग्निः एतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥ ८ ॥]

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवा सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥९॥

पद०—यतः। च। उदेति। सूर्यः। यत्र। च। गच्छति। तम्। देवाः। सर्वे। अर्पिताः। तत्। उ। न। अत्येति। कश्चन। एतत्। वै। तत्।

(यतः) जिससे (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र) जिसमें ही (अस्तम्) अस्त (गच्छति) हो जाता है (तम्) उस परमात्मा में (सर्वे) सभी (देवाः) अग्नि, वाक् आदि देव [जिस भाँति पहिये के सम्पूर्ण अरे पहिये के मध्यभाग से संलग्न रहा करते हैं उसी भाँति] (अर्पिताः) प्रविष्ट रहा करते हैं अर्थात् उस परमात्मा के ही आश्रय को प्राप्तकर अपने-अपने कार्य में संलग्न रहा करते हैं। (तत्) उसका (उ) निश्चय करके (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) अतिक्रमण नहीं कर सकता है। (एतत् वै तत्) यही वह आत्मतत्त्व है।

व्याख्या—जिसकी शक्ति को प्राप्त कर सूर्य उदित और अस्त होता है

अन्य सब देव भी जिसकी शक्ति और आश्रय को प्राप्त कर यथास्थान अपना

अपना कार्य किया करते हैं तथा जिसकी आज्ञा अथवा जिसके नियमादि का उल्लंघन अथवा अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है, वही आत्मतत्त्व शरीर के नष्ट हो जाने पर भी शेष रहा करता है। शरीर के नष्ट हो जाने से उसका विनाश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उसी के आश्रय को प्राप्त कर सभी जड़ और चेतन जगत् अपने-अपने नियमों पर चल रहा है। यह चराचर जगत् उसके एकदेश में विद्यमान है और वह सर्वत्र व्याप्त हो रहा है (पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।)

अब उस परमात्मा में नानात्व अभाव है, इसका कथन करते हैं :—

[शां०—किं च—यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मनं देवा अग्न्यादयोऽधि-देवं वागादयश्च अध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थिति काले सोऽपि ब्रह्मैव। तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै तत् ॥ ९ ॥]

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

पद०—यत। एव। इह। तत्। अमुत्र। यत्। अमुत्र तत्। अनु। इह। मृत्योः। सः। मृत्युं। आप्नोति। यः। इह। नाना। इव। पश्यति।

(यत्) जो परमात्मा (इह) इस लोक में है (तत् एव) वह ही (अमुत्र) परलोक में भी है और (यत्) जो (अमुत्र) परलोक में है (तत्) वही (अनु, इह) यहाँ पर भी है। (यः) जो व्यक्ति (इह) इस परमात्मा के सम्बन्ध में (नाना, इव) नानात्व अथवा अनेकत्व अथवा भेद (पश्यति) देखता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युं) मृत्यु को (आप्नोति) प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार मरण को प्राप्त होता है।

व्याख्या—इस श्लोक में परमात्मा के नानात्व का निषेध किया गया है। वस्तुतः परमात्मा एक तथा अद्वितीय है और वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जैसा इस लोक में है वैसा ही परलोक में भी है और जैसा परलोक में है वैसा

ही यहाँ पर भी है वह जैसा इस समय है वैसा ही पहले भी था और आगे

भी वैसा ही रहेगा। जो पुरुष इस अद्वितीय परमात्मा के सम्बन्ध में नानात्व की कल्पना करता है वह बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है और इस भाँति वह मानव-जीवन के लक्ष्यीभूत मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाता है। संसार में ही आवागमन (जन्म और मृत्यु) के बन्धन में फँसा रहा करता है।

[शां०—यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह—यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थ-ममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म। यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत्। तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते। तस्मा-त्तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येद् इति वाक्यार्थः ॥ १० ॥]

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

पद०—मनसा। एव। इदम्। आप्तव्यम्। न। इह। नाना। अस्ति। किञ्चन। मृत्योः। सः। मृत्युम्। गच्छति। यः। इह। नाना। इव। पश्यति।

(इदम्) यह परम आत्मतत्त्व (मनसा एव) मन के द्वारा ही (आप्तव्यम्) प्राप्त किया जाने योग्य है। (इह) इसमें (नाना) नानापन (किंचन) कुछ भी (न अस्ति) नहीं है। (यः) जो व्यक्ति (इह) इसमें (नाना इव) नानावत् (पश्यति) देखता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) प्राप्त होता है।

व्याख्या—मन दो प्रकार का होता है (१) शुद्ध मन (२) अशुद्ध मन। इन्द्रियों के सम्बन्ध से युक्त मन अशुद्ध तथा आत्मा के सम्बन्ध से युक्त मन

शुद्ध कहा गया है। इस शुद्ध अथवा सुसंस्कृत मन के द्वारा ही उस ब्रह्म की

प्राप्ति संभव है अन्यथा नहीं। परन्तु जिनका मन शुद्ध अथवा सुसंस्कृत न होकर अशुद्ध ही है उनमें नानात्वभाव बना रहा करता है। और फिर उस ऐसे व्यक्ति को संसार के बन्धन में ही बँधा रहना पड़ा करता है। वह बार-बार जन्म लेता तथा बार-बार मृत्यु को प्राप्त किया करता है।

[**शां०**—प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति। आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादि ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रम् अपि। **यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पम्** भेदमध्यारोपयन् इत्यर्थः ॥ ११ ॥]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥

पद०—अङ्गुष्ठमात्रः। पुरुषः। मध्ये। आत्मनि। तिष्ठति। ईशानः। भूतभव्यस्य। न। ततः। विजुगुप्सते। एतत्। वै। तत्।

(भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का (ईशानः) स्वामी (पुरुषः) परमात्मा (आत्मनि मध्ये) शरीर के मध्य में (अंगुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर परिमाण वाले हृदय स्थान में (तिष्ठति) स्थित है। (ततः) उसी के जानने से [साधक-पुरुष] (न विजुगुप्सते) निन्दा को प्राप्त नहीं हुआ करता है। (एतत् वै तत्) यही वह ब्रह्म है।

व्याख्या—भूत एवं भविष्य का स्वामी वह परमात्मा अपने अन्तरात्मा में अथवा अन्तःकरण अथवा हृदय में निवास किया करता है। (वैसे तो वह सर्वव्यापक होने के नाते समस्त शरीर में ही व्याप्त है किन्तु जीवात्मा और परमात्मा का दोनों का निवास हृदय के मध्यस्थल में होने के कारण जीवात्मा वहीं पर उस परमात्मा को सरलता से प्राप्त कर सकता है। इसी भाव से यहाँ उस परमात्मा का अंगुष्ठमात्र स्थान में स्थित होना कथन किया गया है।) यही शरीर का सर्जन कर उसमें प्रविष्ट हुआ है। (तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्।) इस शरीर को उत्पन्न कर उसी में प्रविष्ट होकर यह रह रहा है। जो इस बात को जानता है वह कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता। यही

वह परम आत्मतत्त्व है।

[शां०—पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठ-परिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिः अंगुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्व-मध्यवर्त्यम्बरवत् पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्त-मात्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत् इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानोभूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥१३॥

पद०—अङ्गुष्ठमात्रः । पुरुषः । ज्योतिः । इव । अधूमकः । ईशानः । भूत-भव्यस्य । सः । एव । अद्य । सः । उ । श्वः । एतत् । वै । तत् ।

(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ परिमाणवाले स्थान में निवास करने वाला वह (पुरुषः) परमात्मा (अधूमकः) धुँये से रहित (ज्योतिः, इव) ज्योति के सदृश है । वही (भूतभव्यस्य) भूत और भविष्य का (ईशानः) स्वामी है । (सः एव) वह ही (अद्य) आज और (स उ) वह ही (श्वः) कल है । (एतद्वै तत्) यही वह ब्रह्म है ।

व्याख्या—वह परमात्मा धूमरहित ज्योति के समान अर्थात् शुभ्र स्वरूप-वाला तेजस्वी है । वही इस चराचर जगत् का अधिपति है । वह जैसा आज है वैसा ही कल रहेगा अर्थात् वह तीनों कालों में एकरस ही रहा करता है । सांसारिक पदार्थों में (प्रत्येक पदार्थ जैसे-पुष्प आदि में) प्रतिक्षण तथा प्रतिदिन परिवर्तन होता रहा करता है । आज जो फूल प्रफुल्ल एवं विकसित दृष्टिगोचर हो रहा है वही कल निस्तेज हो जायेगा । इसी भाँति प्रत्येक पदार्थ का विपरिणाम होता रहता है । किन्तु परमात्मा सदैव तीनों कालों में एक सा ही रहा करता है उसमें कभी भी किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं हुआ करता है निस्संदेह यही वह ब्रह्म अथवा परम आत्मतत्त्व है ।

[शां०—किं च—अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः । अनेन नायमस्तीति चैके इत्ययं पक्षः प्राप्तोऽपि

स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥]

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ।। १४ ।।

पद०—यथा । उदकं । दुर्गे । वृष्टम् । पर्वतेषु । विधावति । एवम् । धर्मान् । पृथक् । पश्यन् । तान् । एव । अनुविधावति ।

(यथा) जिस भाँति (दुर्गे) विषम पर्वतों के शिखर पर (वृष्टम्) बरसा हुआ (उदकम्) जल (पर्वतेषु) पर्वतीय निम्न स्थानों में (विधावति) वह जाया करता है, (एवम्) इसी भाँति (धर्मान्) गुणों को गुणी से (पृथक्) भिन्न (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन्हीं गुणों का (अनुविधावति) अनुगमन करता है ।

व्याख्या—जैसे पर्वत के उच्च शिखर पर बरसा हुआ जल अनेक धाराओं में विभक्त होकर नीचे की ओर दौड़ता है तथा नानारूप धारण कर लेता है—यमुना में गया तो यमुना-जल, गंगा में गया तो गंगा-जल कहलाने लगा करता है । परन्तु वस्तुतः वह सब जल एक ही होता है कि जो विभिन्नरूपों में दृष्टिगोचर होता है । ऐसे ही वह आत्मतत्त्व तो वस्तुतः एक ही है । किन्तु गुणों की दृष्टि से विभिन्न रूपों में उसकी प्रतीति होती है । इन विभिन्न गुणों के आधार पर जो उस परम आत्मतत्त्व में नानात्व का दर्शन करता है वह एकत्व की प्राप्ति नहीं कर पाता है ।

[शां०—पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देशे उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्नपृथग् एव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीर-भेदानुवर्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।।१४।।]

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।१५।।

पद०—यथा । उदकम् । शुद्धे । शुद्धम् । आसिक्तम् । तादृक् । एवं । भवति । एवम् । मुनेः । विजानतः । आत्मा । भवति । गौतम ।

(गौतम) हे नचिकेता (यथा) जैसे (शुद्धे) शुद्ध जल में (आसिक्तम्) डाला गया हुआ (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल (तादृक् एव) वैसा ही

(भवति) हो जाता है। (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) ज्ञानी (मुनेः) मननशील पुरुष का (आत्मा) आत्मा (भवति) हो जाता है।

व्याख्या—हे नचिकेता ! जैसे पवित्र जल के बूंद पवित्र जल में गिरने पर तद्वत हो जाया करते हैं, उसी भाँति ज्ञानी एवं मननशील पुरुष का आत्मा शुद्ध एवं शान्त ब्रह्म (परमात्मा) को प्राप्त होकर तद्वत् हो जाया करता है। अर्थात् जैसा उपास्य होता है वैसा ही उपासक भी हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मननशील ज्ञानी पुरुष का आत्मा उस परब्रह्म परमात्मा के गुणों से युक्त होकर शुद्ध एवं शान्त हो जाता है, और इस भाँति वह मानव-जीवन के लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है।

॥ द्वितीय अध्याय की प्रथमवल्ली की व्याख्या समाप्त हुई ॥

[शां०—यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते—यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैः आदरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥]

श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम्।

—:०:—

द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली

अब उस शरीरधर्मा आत्म-तत्त्व का विवेचन प्रकारान्तर से करते हैं :—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

पद०—पुरम् । एकादशद्वारम् । अजस्य । अवक्रचेतसः । अनुष्ठाय । न । शोचति । विमुक्तः । च । विमुच्यते । एतत् । वै । तत् ।

(अवक्रचेतसः) चित्त की कुटिलता से रहित (अजस्य) अजन्मा आत्मा [जीवात्मा] का (एकादशद्वारम्) ग्यारह द्वारों वाला यह (पुरम्) नगर-रूपी शरीर है । (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करने से यह (न शोचति) शोक को प्राप्त नहीं करता है (च) और (विमुक्तः) मुक्त होकर (विमुच्यते) बन्धन से छूट जाता है । (एतत् वै तत्) यही वह है कि जिसके बारे में तूने पूछा था ।

व्याख्या—जिसका चित्त सरल है ऐसे अजन्मा आत्मा का यह ग्यारह दरवाजों वाला शरीर है । ये ग्यारह द्वार हैं :—दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुख, गुद द्वार, मूत्र द्वार, नाभि तथा मस्तक का ब्रह्मरन्ध्र । इस शरीर को छोड़कर निकलने के लिये जीवात्मा के लिये ये ग्यारह द्वार हैं । वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाला शोक से मुक्त हो जाता है । और इस भाँति मुक्त होकर दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । इस शरीररूपी नगरी का जो अधिष्ठाता है वही वह आत्मा है जो शरीर के नाश हो जाने पर अवशिष्ट रह जाता है (जिसके बारे में जानने की तुम्हारी इच्छा थी) ।

[शां०—पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद् ब्रह्मणः—पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् । पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्, तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य

जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा, ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्—तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानाद् अभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥]

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत ॥ २ ॥

पद०—हंसः । शुचिषत् । वसुः । अन्तरिक्षसत् । होता । वेदिषत् । अतिथिः । दुरोणसत् । नृषत् । वरसत् । ऋतसत् । व्योमसत् । अब्जा । गोजा । ऋतजा । अद्रिजा । ऋतम् । बृहत् ।

(हंसः) अज्ञान का विनाशक आत्मा [जीवात्मा] अथवा [अहं—सः] मैं शब्द-वाच्य वह आत्मा (शुचिषत्) पवित्र स्थान में स्थित रहने वाला (वसुः, अन्तरिक्षसत्) तथा मुक्त होने पर अन्तरिक्ष लोक में विचरण करने वाला है । (नृषत्) मनुष्य योनि को प्राप्तकर (वरसत्) श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों का सत्संग करने वाला, (वेदिषत्) यज्ञ की वेदी पर स्थित होकर (होता) यज्ञादि कर्मों का करने वाला, (अतिथिः) एक ही शरीर में स्थित न रहने वाला अर्थात् अनेक योनियों में भ्रमण अथवा विचरण करने वाला, (दुरोणसत्) अनेक आश्रयों में विचरण करने वाला, (ऋतसत्) सत्य में निवास करने वाला है । (अब्जा) जल में भी जन्म लेने वाला, (गोजा) पृथिवी पर जन्म लेने वाला (ऋतजा) अपने कर्मों के आधार पर विभिन्न योनियों में जन्म लेने वाला, (अद्रिजा) पर्वतों पर भी जन्म लेने वाला है, (बृहत् ऋतम्) यह एक महान् सत्य है ।

व्याख्या—उक्त श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अनेक योनियों में अनेक रूपों को धारण किया करता है । किन्तु इस भाँति नाना योनियों में पुनः जन्म लेने पर भी वह अपने कूटस्थभाव का त्याग कभी

भी नहीं करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह कभी ज्ञानी, कभी मुक्त, कभी विद्वान्, कभी अज्ञानी, कभी पुण्यात्मा और कभी पापात्मा होने पर भी अपने सत् चित् रूप से सदा एकरस बना रहा करता है। उसकी सत्ता तथा स्वरूपभूत चेतनता में कभी किसी प्रकार की विषमता नहीं आती है।

भाव—यह आत्मा कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त किया करता है कभी स्थलचर होकर पृथिवी में और कभी जलचर होकर जल में तथा कभी नभचर होकर आकाश में गमन किया करता है। कभी मनुष्य, देव तथा ऋषि आदि के शरीर में जन्म लेता है इत्यादि इत्यादि। यद्यपि यह आत्मा कर्मानुसार अनेक विभिन्न योनियों को प्राप्त किया करता है किन्तु फिर भी वह अपने स्वरूप से सदैव नित्य और 'अपरिणामी ही रहता है।

[शा०—स तु नैकशरीरे पुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती। कथम्—हंसो हन्ति गच्छतीति शुचिषच्छुचौ दिव्यदित्यामत्मना सीदति इति। वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताग्निः 'अग्निर्वै होता' इति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद्। 'इयं वेदि. परोऽन्तः पृथिव्याः' (ऋ० सं० २।३।२०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत्। ब्राह्मणः अतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद् वरेषु देवेषु सीदतीति; ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां ब्रीहि-यवादिरूपेण जायत इति। ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः पर्व-तेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति। सर्वात्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव। बृहन्महा-न्सर्वकारणत्वात्। यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्य-स्येत्यङ्गीकृतत्वात् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ २ ॥]

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

पद०—ऊर्ध्वम् । प्राणम् । उत् । नयति । अपानम् । प्रत्यक् । अस्यति । मध्ये । वामनम् । आसीनम् । विश्वे । देवाः । उपासते ।

आत्मा (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उत् नयति) ले जाता है, (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) हृदय देश से नीचे की ओर (अस्यति) फेंकता है । (मध्ये) मध्य में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) इसी आत्मा की (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) इन्द्रियाँ (उपासते) सेवा करती हैं।

व्याख्या—हृदय के मध्य में स्थित आत्मा के पास ही प्राण तथा सभी इन्द्रियाँ उपस्थित रहती हैं जिस भाँति नौकर अपने स्वामी की सेवा में सदैव तत्पर रहा करते हैं उसी भाँति सभी इन्द्रियाँ आत्मा की सेवा में संलग्न रहा करती हैं वही अपनी शक्ति से प्राणवायु को ऊपर ले जाता है तथा अपानवायु को नीचे फेंक देता है ।

[शां०—आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—ऊर्ध्वं हृदयात्प्राण प्राणवृत्ति वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति । तथापानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तं विज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते । तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्ति इत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्य सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥]

अस्य विस्रसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ।४॥

पद०—अस्य । विस्रसमानस्य । शरीरस्थस्य । देहिनः । देहात् । विमुच्यमानस्य । किम् । अत्र । परिशिष्यते । एतत् । वै । तत् ।

(शरीरस्थस्य) शरीर में स्थित (अस्य) इस (देहिनः) जीवात्मा के (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) छोड़कर (विस्रसमानस्य) पृथक् हो जाने पर (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है ? (एतत् वै तत्) यही वह है कि जिसके बारे में तुमने पूछा था ।

व्याख्या—इस शरीर का संचालक आत्मा है । वह जब इस शरीर को

छोड़कर कर चल देता है तब यहाँ क्या अवशिष्ट रह जाता है ? कुछ भी नहीं। आत्मा के इस शरीर से पृथक होते ही सम्पूर्ण शक्तियाँ उसके साथ ही चली जाती हैं और इस भौतिक शरीर में चेतनता का कोई अंश शेष नहीं रह जाता।

[शां०—किं च—अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः, विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यते। अत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥ ४ ॥]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

पद०—न। प्राणेन। न अपानेन। मर्त्यः। जीवति। कश्चन। इतरेण। तु। जीवन्ति। यस्मिन्। एतौ। उपाश्रितौ।

(कश्चन) कोई भी (मर्त्यः) मनुष्य (न प्राणेन) न प्राण से (न अपानेन) न अपान से ही (जीवति) जीवित रहता है। (तु) किन्तु (एतौ) ये दोनों प्राण और अपान (यस्मिन्) जिसमें (उपाश्रितौ) आश्रित होकर रहते हैं ऐसे (इतरेण) उस अन्य [आत्मा] से (जीवन्ति) जीवित रहते हैं।

व्याख्या—केवल प्राण अथवा केवल अपान के आधार पर ही कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। जिसके आश्रित होकर ये प्राण और अपान अपना अपना कार्य किया करते हैं तथा जिसके आश्रय को प्राप्त न होने पर क्रियाहीन हो जाया करते हैं, उसी आत्मा से प्राणी जीवित रहा करते हैं। इस कारण यह आत्मा ही प्रधान है।

अब यम प्रकारान्तर से आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा (ब्रह्म) का कथन करते हैं :—

[शां०—स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमाद् एवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति नैतदस्ति—न प्राणेन नापा-

नेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देह वान्कश्चन जीवति, न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते। स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्त संहतानामवस्थानं न दृष्ट गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति। अत इतरेणैव सहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्सः ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः॥ ५॥]

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

पद०—हन्त। ते। इदम्। प्रवक्ष्यामि। गुह्यम्। ब्रह्म। सनातनम्। यथा। च। मरणम्। प्राप्य। आत्मा। भवति। गौतम।

(हे गौतम) हे नचिकेता ! (हन्त, ते) अब मैं तुम्हारे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) गुह्य और (सनातनम्) सनातन-शाश्वत (ब्रह्म) परमात्मा के विषय में (प्रवक्ष्यामि) कथन करूँगा। (च) और (यथा) जैसी कि (मरणम् प्राप्य) मृत्यु को प्राप्त करके (आत्मा) आत्मा की (भवति) अवस्था होती है।

व्याख्या—यमाचार्य नचिकेता से कह रहे हैं कि मैं अब तुमको दो बातें बतलाऊँगा (१) प्रथम यह कि गुह्य अर्थात् गोपनीय सनातन अर्थात् चिरन्तन ब्रह्म क्या है ? जिसको जानने से जीवत्मा मृत्यु पर (मुझ पर) विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् अमर हो जाता है अथवा संसारचक्र के आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है। तथा जिसको न जानने से जीवात्मा बारम्बार मेरे अधीन होकर जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहा करता है। (२) दूसरे यह कि मृत्यु होने के पश्चात् जीवात्मा (आत्मा) की क्या स्थिति होती है ?

[**शां०**—हन्तेदानी पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्मसनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं यथात्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम !॥ ६॥]

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥

पद०—योनिम् । अन्ये । प्रपद्यन्ते । शरीरत्वाय । देहिनः । स्थाणुम् । अन्ये । अनुसंयन्ति । यथाकर्म । यथाश्रुतम् ।

(अन्ये) कोई एक (देहिनः) प्राणी (यथाकर्म, यथाश्रुतम्) अपने-अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (योनिम्) योनि को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं। (अन्ये) कोई प्राणी (स्थाणुम्) स्थावर शरीर को (अनुसंयन्ति) [मरने के पश्चात्] प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—संसार में जिन प्राणियों का रुझाव ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की ओर नहीं है वे क्लेश कर्मादि के पाश में बंधे हुए भोगरूप फल को प्राप्त करते हैं जिनके कर्म शुभ हैं वह उत्तम योनियों को, जिनके शुभाशुभ कर्म समान हैं वे मनुष्य योनि को तथा जिनके अशुभ कर्म अधिक हैं वे तिर्यक् अर्थात् जड़ योनियों को प्राप्त होते हैं। जब तक वे उस परमपद (मोक्षधाम) के अधिकारी नहीं बनते तब तक वे इसी भाँति जन्म-मरण के बन्धन में बँधे रहा करते हैं। जैसा जिसका कर्म और जैसा जिसका ज्ञान होता है वैसी ही उसकी गति होती है।

पूर्व श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप को बतलाने को कहा था। अतः अब ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं :—

[शां०—योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिद् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः स्थाणु वृक्षादिस्थावरभावम् अन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। 'यथाप्रज्ञं हि संभवाः' इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥]

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

पद०—यः । एषः । सुप्तेषु । जागर्ति । कामं कामम् । पुरुषः । निर्मिमाणः । तत् । एव । शुक्रम् । तत् । ब्रह्म । तत् । एव । अमृतम् । उच्यते ।

तस्मिन् । लोकाः । श्रिताः । सर्वे । तत् । उ । न । अत्येति । कश्चन । एतत् । वै । तत् ।

(यः एषः) जो यह (पुरुषः) अन्तर्यामी परमात्मा (कामं कामम्) प्रत्येक कामना की इच्छानुसार पूर्ति के लिये (निर्मिमाणः) सम्पूर्ण संसार [समस्त ब्रह्माण्ड] का निर्माण करते हुए (सुप्तेषु) अज्ञानी जीवों में (जागर्ति) जागता रहता है (तत् एव) वह ही (शुक्रम्) शुद्ध, (तत् ब्रह्म) वही महान् से महान्, (तत् एव) और वही (अमृतम्) मृत्यु से रहित अर्थात् अमर अथवा नित्य (उच्यते) कहा जाता है । (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे लोका) सब लोक (श्रिताः) स्थित है (तत् उ) उसका (कश्चन) कोई भी (न अत्येति) अतिक्रमण नहीं कर सकता है । (एतत् वै तत्) यही वह ब्रह्म है ।

व्याख्या—वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करता हुआ स्वयं उससे सर्वथा पृथक् है । सोये हुए के सदृश अज्ञानी जीवों का उन-उनके कर्मानुसार फल प्रदान करता हुआ स्वयं जागते हुए के सदृश अन्तर्यामी रूप में स्थित रहा करता है । वही शुद्ध तथा चिरन्तन ब्रह्म है । वही अमृत अथवा अविनाशी कहा जाता है । सभी लोक लोकान्तर उसी के आश्रय में रहकर स्थित रहा करते हैं क्योंकि वही सबका कारण है । उसका कोई भी अतिक्रमण नही कर सकता है ।

अब उस कथित ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन करते हैं :—

[**शां०**—यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् ? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु । किं च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववदेव ।। ८ ।।]

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।९।।

पद—अग्निः । यथा । एकः । भुवनम् । प्रविष्टः । रूपं रूपम् । प्रतिरूपः । बभूव । एकः । तथा । सर्वभूतान्तरात्मा । रूपं रूपम् । प्रतिरूपः । बहिः । च ।

(यथा) जिस प्रकार (एकः अग्निः) एक ही अग्नि (भुवनम्) सम्पूर्ण भुवनों में (प्रविष्टः) प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर (रूपं रूपम्) प्रत्येक पदार्थ के (प्रतिरूपः) समान रूप वाला होकर (बभूव) तदाकार हो रहा है (तथा) उसी प्रकार (सर्वभूतान्तरात्मा) सभी प्राणियों एवं पदार्थों में अन्तर्यामी रूप में विद्यमान वह परमात्मा भी (एकः) एक ही होते हुए भी (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूप में (प्रतिरूपः) तद् रूप वाला प्रतीत हो रहा है और (बहिः च) बाहर भी है ।

व्याख्या—इस श्लोक में अग्नि के दृष्टान्त द्वारा परमात्मा की सर्वव्यापकता का उल्लेख किया गया है । जिस भाँति एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रविष्ट हुआ तदाकार प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में है उससे पृथक् । इसी भाँति वह सर्वान्तिर्यामी परमात्मा भी सम्पूर्ण भूतों और पदार्थों में व्याप्त है किन्तु वास्तव में वह है उनसे भिन्न और उनके बाहर भी है ।

[शां०—अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिदार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः । प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव, एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मादिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अधिकृतेन स्वरूपेणाकाशवत् ।। ९ ।।]

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।१०।।

पद०—वायुः । यथा । एकः । भुवनम् । प्रविष्टः । रूपं रूपम् । प्रतिरूपः । बभूव । एकः । तथा । सर्वभूतान्तरात्मा । रूप रूपम् । प्रतिरूपः । बहिः । च ।

(यथा) जिस भाँति (एकः वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक-लोकान्तरों में (प्रविष्टः) प्रवेश करके (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूप में (प्रतिरूपः बभूव) उस-उस रूप वाला हो जाता है (तथा) उसी भाँति (एकः सर्वभूतान्तरात्मा) एक ही सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप में विद्यमान वह परमात्मा (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूप में (प्रतिरूपः) तद् रूप वाला प्रतीत हो रहा है (च) और वह (बहिः) बाहर भी है।

व्याख्या—पुनः इस श्लोक में वायु के दृष्टान्त द्वारा उस परमात्मा की सर्वव्यापकता का ही वर्णन किया गया है जिस भाँति वायु सभी भूतों तथा पदार्थों में व्याप्त हो रहा है तथा बाहर भी है उसी भाँति वह परमात्मा भी सभी भूतों तथा पदार्थों में व्याप्त होने पर भी उन सबसे भिन्न तथा बाहर भी है। और इस भाँति वह एक अथवा अद्वितीय ही है।

सर्वव्यापक होने पर वह निर्लेप है, इसका कथन करते हैं :—

[**शां०**—तथान्यो दृष्टान्तः—वायुर्यथैक इत्यादि। प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम् ॥ १० ॥]

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

पद०—सूर्यः। यथा। सर्वलोकस्य। चक्षुः। न। लिप्यते। चाक्षुषैः। बाह्यदोषैः। एकः। तथा। सर्वभूतान्तरात्मा। न। लिप्यते। लोकदुःखेन। बाह्यः।

(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) सम्पूर्ण संसार का (चक्षुः) नेत्र होने पर भी (चाक्षुषैः) नेत्र सम्बन्धी (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता है (तथा) उसी प्रकार (एकः, सर्वभूतान्तरात्मा) एक, सभी भूतों का अन्तर्यामी परमात्मा (बाह्यः) उनसे अलग होने के कारण (लोकदुःखेन) सांसारिक दुःखों से (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता है।

व्याख्या—सूर्य प्रकाश का दाता होने के कारण सम्पूर्ण विश्व का नेत्र कहा जाता है अर्थात् उसी के प्रकाश से सब के नेत्र तथा विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ

प्रकाशित होते हैं किन्तु नेत्र तथा पदार्थों में विद्यमान दोषों से वह दूषित कभी भी नहीं हुआ करता है। इसी भाँति समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा सांसारिक अथवा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी दोषों से कभी भी दूषित नहीं होता है। इसके विपरीत वह उनसे पृथक् ही रहता है। अर्थात् वह लोकों के अन्दर तथा बाहर भी है। किन्तु फिर भी वह ब्रह्माण्ड अथवा विश्व के गुण दोषों से न तो गुणी अथवा दोषी ही बनता है।

[शां०—एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखम् अनुभवति। न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति। संसर्गिणी विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां लेपः। विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते। तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति। न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः ? बाह्यः, रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति॥ ११॥]

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूप बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२॥

पद०—एकः। वशी। सर्वभूतान्तरात्मा। एकम्। रूपम्। बहुधा। यः। करोति। तम्। आत्मस्थम्। ये। अनुपश्यन्ति। धीराः। तेषाम्। सुखम्। शाश्वतम्। न। इतरेषाम्।

(वशी) सब का नियन्ता (सर्वभूतान्तरात्मा) सभी भूतों में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान वह परमात्मा (एकः) अद्वितीय है, (यः) जो (एकम्, रूपम्) एक दृश्य जगत् अथवा ब्रह्माण्ड को (बहुधा) नाना रूपों में (करोति) सृजन करता है। (ये) जो (धीराः) विद्वान् पुरुष (तम्) उस परमात्मा को (आत्मस्थम्) अपने अन्दर स्थित (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्)

उनको (शाश्वतम्) निरन्तर (सुखम्) सुख की प्राप्ति होती है। (इतरेषां न) दूसरों को नहीं।

व्याख्या—वह परमात्मा कि जो इस समस्त ब्रह्माण्ड को अपने-अपने नियमों पर चला रहा है, नानारूपों में इस कार्यरूप जगत् का विस्तार करता है। ऐसे उस परमात्मा को जो धीरपुरुष देखते अथवा साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को शाश्वत अथवा निरन्तर सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् वे सांसारिक त्रिविध दुःखों से छुटकारा प्राप्तकर आवागमन के बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाया करते हैं। किन्तु जो बाह्य विषयों में आसक्त मन वाले तथा अज्ञानी हैं उनको इस सुख अथवा आनन्द की उपलब्धि नहीं हुआ करती हैं।

[**शां०**—किं च—स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति। वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते। कुतः? सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं यः करोतिस्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तमित्येतत्।

न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः आकाशवदमूर्तत्वात्, आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत्। तमेतम् ईश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्दलक्षणं भवति, नेतरेषां बाह्यसक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानम् ॥ १२ ॥]

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतानाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

पद०—नित्यः। अनित्यानाम्। चेतनः। चेतनानाम्। एकः। बहूनाम्। यः। विदधाति। कामान्। तम्। आत्मस्थम्। ये। अनुपश्यन्ति। धीराः। तेषाम्। शान्तिः। शाश्वती। न। इतरेषाम्।

जो (अनित्यानाम्) अनित्यों में (नित्यः) नित्य अथवा (नित्यानां

नित्यः) नित्यों में नित्य (चेतनानां) चेतनों में (चेतनः) चेतन (यः बहूनां एकः) तथा जो अनेकों में एक है वह (कामान्) कामनाओं को (विदधाति) पूर्ण करता है। (तम्) उस (आत्मस्थम्) अपने में स्थित परमात्मा को (ये) जो (धीराः) बुद्धिमान्, पुरुष (अनुपश्यन्ति) देखते हैं, (तेषाम्) उनको (शाश्वती) शाश्वत शान्तिः) शान्ति प्राप्त हुआ करती है। (इतरेषां न) अन्यों को नहीं।

व्याख्या—सभी भूतों के अभ्यन्तर व्याप्त यह परमात्मा अनित्य तथा नित्य दोनों ही प्रकार के पदार्थों में सदैव नित्यरूप में अवस्थित है। चेतनों को चेतना प्रदान करनेवाला है। अनेकों में यह एक है। यही सब प्रकार की शुभ इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है। ऐसे इस परमात्मा को जो ज्ञानी पुरुष अपने अन्दर स्थित देखते हैं अर्थात् उसका साक्षात्कार कर लेते हैं उनको शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है अथवा उनको जन्म-मरण से रहित मुक्ति अथवा मोक्ष का निरन्तर आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु इसके विपरीत आचरण करने वाले जो अज्ञानी पुरुष हैं उनको यह शान्ति अथवा आनन्द प्राप्त नहीं होता है, वे सदैव अशान्त और बेचैन रहते हुए जन्म मरण के बन्धन में बँधे रहा करते हैं।

[**शां०**—किं च—नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वम् अनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम्। किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनाम् अनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्। तमात्मस्थं येन अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥]

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

पद०—तत्। एतत्। इति। मन्यन्ते। अनिर्देश्यम्। परमम्। सुखम्। कथम्। नु। तत्। विजानीयाम्। किम्। उ। भाति। विभाति। वा।

(तत् एतत्) वह यह (अनिर्देश्यम्) अतर्क्य तथा (परमं सुखम्) सर्वोपरि सुखस्वरूप है (इति) इस प्रकार ज्ञानी पुरुष (मन्यन्ते) मानते

हैं। फिर (नु कथम्) किस प्रकार उसको (विजानीयाम्) हम जानें ? (उ) और (किम्) क्या (तत्) वह (भाति) प्रकाशित होता है ? अथवा क्या उसका (विभाति) साक्षात्कार होता है ?

व्याख्या—वह परम आत्मतत्त्व तर्कना न करने योग्य तथा अत्यन्त सुख देने वाला है। किन्तु फिर भी जिज्ञासु पुरुष के अन्दर नाना प्रकार की तर्कनायें उत्पन्न होती ही हैं कि मैं उसके स्वरूप को किस प्रकार जानूँ ? अथवा क्या वह अन्यों के समक्ष अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है अथवा नहीं ? अथवा उसका साक्षात्कार होता भी है अथवा नहीं ?

[शां०—यत्तदातमविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टप्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम् अपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते। कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम्। इदम् इत्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति ॥१४॥]

न तत्र सूर्यो न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

पद०—न। तत्र। सूर्यः। भाति। न। चन्द्रतारकम्। न। इमाः। विद्युतः। भान्ति। कुतः। अयम्। अग्निः। तम्। एव। भान्तम्। अनुभाति। सर्वम्। तस्य। भासा। सर्वम्। इदम्। विभाति।

(तत्र) उस ब्रह्म में अथवा उस ब्रह्म को (सूर्यः) सूर्य अपने प्रकाश से (न भाति) प्रकाशित नहीं कर सकता है; (चन्द्रतारकम्) चन्द्रमा तथा तारागण भी (न) उसे प्रकाशित नहीं कर सकते हैं; (इमाः, विद्युतः) ये विजलियाँ भी उसको (न, भान्ति) प्रकाशित नहीं कर सकती हैं। (अयं, अग्निः) यह भौतिक अग्नि (कुतः) तो कहाँ से प्रकाशित कर सकती है ? अर्थात पूर्णतया असमर्थ है। (भान्तं तं एव) स्वयं प्रकाशित [प्रकाशस्वरूप] उस परमात्मा से ही (सर्वम्) ये सब (अनुभाति) प्रकाशित होते

हैं तथा (तस्य) उसकी ही (भासा) दीप्ति से (इदं, सर्वम्) यह सब अथवा यह समस्त ब्राह्मण्ड (विभाति) दीप्तिमान होता है।

व्याख्या—इससे पूर्व श्लोक में की गई तर्कनाओं का समाधान इस श्लोक में किया गया है। यह सूर्य, चन्द्र नक्षत्र तथा विद्युत् इत्यादि उस परब्रह्म परमात्मा को प्रकाशित करने में सर्वथा असमर्थ हैं, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या ? सूर्य आदि ये सभी पदार्थ प्रकाशस्वरूप उस परमात्मा के प्रकाश से ही अपने को प्रकाशित करने अथवा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है उसे किसी अन्य के प्रकाश की अपेक्षा क्यों होगी ? समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाले अथवा प्रकाश देने वाले इन सूर्य आदि पदार्थों का प्रकाशक प्रकाशस्वरूप-परमात्मा स्वयं ही है। ऋग्वेद का निम्न मन्त्र स्वयं ही इस बात का पोषक है :—

"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ऋग० ८।८।४८।३॥

इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र आदि की रचना कर उनको प्रकाशित करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य, चन्द्र आदि परप्रकाश्य (अर्थात् दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य) हैं तथा परमात्मा स्वयं ही प्रकाशस्वरूप है।

॥ द्वितीय अध्याय की द्वितीयवल्ली की व्याख्या समाप्त हुई ॥

[**शां०**—अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम् ? न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तदब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरः अग्निः। किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति। यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥]

इति श्रीमदाचार्य-श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्

—:०:—

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयवल्ली

अब संसाररूपी वृक्ष के अस्तित्व के आधार पर उसके कारणभूत ब्रह्म का कथन करते हैं :—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

पद०—ऊर्ध्वमूलः । अवाक्शाखः । एषः । अश्वत्थः । सनातनः । तत् । एव । शुक्रम् । तत् । ब्रह्म । तत् । एव । अमृतम् । उच्यते । तस्मिन् । लोकाः । श्रिताः सर्वे । तत् । उ । न । अत्येति । कश्चन । एतत् । वै । तत् ।

(ऊर्ध्वमूलः) ऊपर की ओर मूल अर्थात् सर्वोपरि ब्रह्म ही जिसका कारण है ऐसा (अवाक्शाखः) नीचे की ओर शाखा अर्थात् कार्य है जिसका ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) अनित्य संसाररूपी वृक्ष (सनातनः) प्रवाह-रूप से अनादि है। ऐसे वृक्ष का आधारभूत (तत एव) वही ब्रह्म (शुक्रम्) बलशाली, (तत् उ) वही (ब्रह्म) महान् (अमृतम्) तथा अविनाशी है ज्ञानी पुरुष ऐसा (उच्यते) कहते हैं। (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (स्थिताः) स्थित हैं। (तत्) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न अत्येति) अतिक्रमण नहीं कर सकता है। (एतत्) यह (वै) निश्चितरूप से (तत्) वही ब्रह्म है कि जिसके बारे में तुमने पूछा था।

व्याख्या—"न श्वस्तिष्ठतीति अश्वत्थः" जो कल स्थिर न रहने वाला है उसी का नाम अश्वत्थ अर्थात् एकरस न रहनेवाला विनाशी तथा प्रवाहरूप से अनादि है—ऐसे इस संसार की रचना कर जिसने अपनी अपार महिमा का प्रकाश किया है वही ब्रह्म है, उसी में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। उसके नियमों का उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता है। वही अमृत अर्थात् अविनाशी है। इस संसार का आदि मूल अर्थात् सर्वाधार वही है।

ऐसे उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने से अमृतपद की प्राप्ति होती है :—

[शां—तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—ऊर्ध्वमूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् । जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतप-आद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिःसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकुतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभि अवाक्शाखः सनातनोऽनादित्वाच्चिरप्रवृत्तः । यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत् चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतम् अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम् अन्यदतो मर्त्यम् । तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः एतद्वै तत् ॥ १ ॥]

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

पद०—यत् । इदम् । किम् । च । जगत् । सर्वम् । प्राणे । एजति । निःसृतम् । महत् । भयम् । वज्रम् । उद्यतम् । ये । एतत् । विदुः । अमृताः । ते । भवन्ति ।

(यत् किञ्च) जो कुछ (जगत्) संसार है (इदम्) यह (सर्वम्) सब (प्राणे) प्राणस्वरूप परमात्मा में (एजति) चेष्टा करता है और उसी से (निःसृतम्) उत्पन्न होता है। वह परमात्मा दुष्टों के लिये (उद्यतं वज्रं इव) हाथ में लिये हुए शस्त्र के सदृश (महद् भयम्) अत्यन्त भयरूप है। (ये) जो ज्ञानी पुरुष (एतत्) ऐसे इस परमात्मा को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर अर्थात् मृत्यु के बन्धन से रहित (भवन्ति) हो जाते हैं।

व्याख्या—यह जो कुछ जगत् है वह सभी ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से स्पन्दमान होता है अर्थात् चेष्टा करता है। उसी के भय से सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थ नियमानुसार अपना अपना कार्य कर रहे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसके द्वारा बनाये गये हुये नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। इस प्रकार के उस अपने-अपने कर्मों के साक्षिभूत एक परमात्मा को जो जान लेते हैं वे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं अथवा अमर हो जाते हैं। जो व्यक्ति उसकी आज्ञा और नियमों का उल्लंघन किया करते हैं उनके लिये वह परमात्मा उठाये वज्र के समान भयस्वरूप है। इसका तात्पर्य यह है कि नियम तोड़ने वाले पुरुषों को अनन्त दुःखों की प्राप्ति होती है।

अब उस भयस्वरूप परमात्मा के भय से किस भाँति समस्त ब्रह्माण्ड अपने-अपने नियमों में संलग्न रहता है? इसका कथन करते हैं :—

[शां० —यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति। तन्न—यदिदं किं च यत्किं चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्, वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणम् अप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति। य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥]

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

पद०—भयात् । अस्य । अग्निः । तपति । भयात् । तपति । सूर्यः । भयात् । इन्द्रः । च । वायुः । च । मृत्युः । धावति । पञ्चमः ।

(अस्य) इस ब्रह्म के भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) तपती है (च) और इसी के (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है (च) और इसी के (भयात्) भय से (इन्द्रः) विद्युत् और (वायुः) वायु (धावति) चेष्टा करते हैं तथा (पञ्चमः) पाचवाँ (मृत्युः) काल भी इसी के भय से (धावति) दौड़ता है ।

व्याख्या—अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु यह पाँचों उसी परमात्मा के भय से निरन्तर अपना-अपना कार्य करने में संलग्न हैं । भय शब्द से यहाँ भाव है परमात्मा के नियम । तात्पर्य यह है कि अग्नि आदि सभी पदार्थ परमात्मा द्वारा निर्धारित नियमों में बँधे हुए हैं तथा उन्हीं के अनुसार अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हैं

[**शां०**—कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—भयाद् भीत्या परमेश्वरस्याग्निः तपति भयात्तपति सूर्यो भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥]

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

पद०—इह । चेत् । अशकत् । बोद्धुम् । प्राक् । शरीरस्य । विस्रसः । ततः । सर्गेषु । लोकेषु । शरीरत्वाय । कल्पते ।

(इह) इसी शरीर में अथवा इसी जन्म में (चेत्) यदि (बोद्धुम्) जानने में अर्थात् परमात्मा को जान लेने में (अशकत्) यदि प्राणी समर्थ हो जाता है तो (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहले ही मुक्त हो जाता है । अन्यथा (ततः) परमात्मा को न जानने से (सर्गेषु लोकेषु) सृष्टि के विभिन्न लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ।

व्याख्या—इसी शरीर में अर्थात् जीवित अवस्था में ही यदि ब्रह्म को जानने में प्राणी समर्थ हो जाता है तो शरीर के नाश होने के पहले ही संसार

के बन्धन से छूट जाता है। किन्तु यदि इस जन्म में जानने में समर्थ न हो सका तो उस ब्रह्मज्ञान के अभाव के कारण—स्रष्टव्य प्राणिगण जिन अनेक लोकों में उत्पन्न हुआ करते हैं अथवा शरीर धारण किया करते हैं—उन्हीं पृथ्वी आदि लोकों में शरीर को धारण किया करता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त होकर उस ब्रह्म की प्राप्ति कर लिया करता है किन्तु अज्ञानी पुरुष संसार के आवागमन अथवा जन्म-मृत्यु के बन्धन में ही बँधा रहकर नाना प्रकार के भोगों को भोगा करता है।

निर्मल बुद्धि में ही परमात्मा का दर्शन होता है :—

[शां०—तच्च—इह जीवन्नेव चेद्यद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते। न चेदशकद् बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥]

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

पद०—यथा। आदर्शे। तथा। आत्मनि। यथा। स्वप्ने। तथा। पितृलोके। यथा। अप्सु। परि। इव। तथा। गन्धर्वलोके। छायातपयोः। इव। ब्रह्मलोके।

(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में अपना मुख स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ करता है, उसी प्रकार (आत्मनि) निर्मल बुद्धि में अथवा पवित्र मन में परमात्मा का दर्शन होता है। (यथा) जिस प्रकार (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में पदार्थों की अन्यथा प्रतीति हुआ करती है (तथा) वैसे ही (पितृलोके) पितृलोक में परमात्मा की प्रतीति हुआ करती है और (यथा) जिस भाँति जलों में (परि इव ददृशे) चारों ओर से अवयव दीखते हुए होने पर भी दर्पण के सदृश स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते (तथा) उसी प्रकार (गन्धर्वलोके) गन्धर्वलोक में परमात्मा की प्रतीति आभासमात्र होती है

किन्तु (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (छायातपयोः इव) छाया एवं धूप के सदृश आत्मा और परमात्मा का दर्शन होता है।

व्याख्या—जैसे मनुष्य अपने मुख को निर्मल दर्पण में स्पष्ट रूप से ज्यों का त्यों देखा करता है उसी प्रकार अतिनिर्मल बुद्धि अथवा मनोवृत्ति में वह परमात्म-दर्शन भी किया करता है। स्वप्नावस्था में जैसे जाग्रत् समय के संस्कारों से पदार्थों की अन्यथा प्रतीति हुआ करती है वैसे ही पितृलोक में अर्थात् केवल कर्मी लोगों की अवस्था में परमात्मा की अन्यथा और. अस्पष्ट प्रतीति हुआ करती है क्योंकि व्यक्ति कर्मफल-भोग में आसक्त रहा करता है। जैसे जल में अवयव स्पष्ट रूप से नहीं दीखते उनका केवल आभासमात्र ही होता है वैसे ही गन्धर्वलोक में परमात्मा का अविविक्तरूप से आभासमात्र ही होता है। किन्तु केवल ब्रह्मलोक में अर्थात् ब्रह्मज्ञानी की अवस्था में विद्यमान व्यक्ति को छाया एवं आत्मा के सदृश उस आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार हुआ करता है।

शरीर एवं इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को जानने वाला पुरुष शोक से रहित हो जाता है, इसका कथन करते हैं :—

[**शां०**—यस्मादिहैवात्मनो दर्शनम् आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकाद् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः कथम्? इत्युच्यते—यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तम् आत्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तम् एव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात्। यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोः इवात्यन्तविविक्तम् ब्रह्मलोक एव एकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात्। तस्मादात्मदर्शनाये-हैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः॥ ५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥ ६॥

पद०—इन्द्रियाणाम् । पृथग्भावम् । उदयास्तमयौ । च । यत् । पृथक् । उत्पद्यमानानाम् । मत्वा । धीरः । न । शोचति ।

(यत्) जो (पृथगुत्पद्यमानानाम्) पृथक् उत्पन्न होने वाली अर्थात् भिन्न-भिन्न तत्त्वों से उत्पन्न होनेवाली (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों की (पृथक्-भावम्) पृथक्ता को (च) और (उदयास्तमयौ) जाग्रत् अवस्था में उदय और सुषुप्ति अवस्था में अस्त होने के धर्मों को भली भाँति जानता है, ऐसा (धीरः) बुद्धिमान् पुरुष (मत्वा) शरीर एवं इन्द्रियों से पृथक् आत्मा को समझ कर (न, शोचति) शोक को प्राप्त नहीं होता है ।

व्याख्या—जो पुरुष आत्मा को शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न अनादि तथा अजन्मा जानते हैं वे शोक से मुक्त हो जाते है किन्तु जो व्यक्ति यह मानते हैं कि शरीर और इन्द्रियों से भिन्न कोई आत्मा नहीं है वे शरीर के नाश के साथ ही अपना नाश मानते हुए निरन्तर शोक-सागर में डूबे रहा करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि को ज्ञानी पुरुष श्रोत्र आदि इन्द्रियों के कारणभूत आकाश आदि तत्त्वों तथा उनके भिन्न-भिन्न भावों को यथार्थ रीति से जानकर अपने आत्मा के अविनाशी भाव का अनुभव करता है वह शोक से मुक्त हो जाता है ।

अब निम्नलिखित दो श्लोकों में परमात्मा की सूक्ष्मता का वर्णन करते हैं :—

[**शां०**—कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदेवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्यः आकाशदिभ्यः पृथग् उत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभाव-विलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति । आत्मनो नित्यैकस्वभावस्य अव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरम् 'तरति शोकमात्मवित्' (छ० उ० ७।१।३) इति ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

पद०—इन्द्रियेभ्यः । परम् । मनः । मनसः । सत्त्वम् । उत्तमम् । सत्त्वात् । अधि । महान् । आत्मा । महतः । अव्यक्तम् । उत्तमम् ।

(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) सत्त्वगुणविशिष्ट बुद्धि (उत्तमम्) सूक्ष्म है, (सत्त्वात् अधि) बुद्धि की अपेक्षा (महान् आत्मा) महत्तत्त्व सूक्ष्म है। (महतः) महत्तत्त्व की अपेक्षा (अव्यक्तम्) प्रकृति (उत्तमम्) सूक्ष्म है।

[शां०—यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते–इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्व-शब्दाद् बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७ ॥]

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

पद०—अव्यक्तात् । तु । परः । पुरुषः । व्यापकः । अलिङ्गः । एव । च । यत् । ज्ञात्वा । मुच्यते । जन्तुः । अमृतत्वम् । च । गच्छति ।

(अव्यक्तात्) सबके उपादान कारण उस अव्यक्त प्रकृति से (तु) तो (व्यापकः) सर्वव्यापक (च) और (अलिङ्गः, एव) जिसका कोई चिह्न नहीं है ऐसा (पुरुषः) परमात्मा (परः) अतिसूक्ष्म है (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) जीव [अर्थात् जीवात्मा] (मुच्यते) मुक्त हो जाता है (च) और (अमृतत्वम्) अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—उपर्युक्त दोनों श्लोकों में परापर भाव की दृष्टि से परमात्मा की सूक्ष्मता का वर्णन प्रस्तुत किया गया है साथ ही यह भी बतलाया गया है कि उसके ज्ञान को प्राप्त कर लेने से मनुष्य सांसारिक-आवागमन के बन्धन तथा त्रिविध दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। भाव यह है कि वह परमात्मा प्रकृत्यादि सभी पदार्थों से अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक और लिङ्गवर्जित है उसी को जानकर प्राणी शरीरादि के बन्धन से छूटकर अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है कि जहाँ किसी प्रकार के दुःख का लेशमात्र भी नहीं है।

नोट—यद्यपि प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली में 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि श्लोकों में परमात्मा की अति सूक्ष्मता का प्रतिपादन किया जा चुका है किन्तु परमात्मा की अतिसूक्ष्मता के कारण उसका जो यहाँ पुनः वर्णन उपस्थित किया गया है वह उचित ही है।

एकमात्र परमात्म-ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, इसका कथन करते हैं :—

[**शां०**—अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्तीति सोऽयमलिङ्ग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वा आचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥ ८॥]

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

पद०—न। सन्दृशे। तिष्ठति। रूपम्। अस्य। न। चक्षुषा। पश्यति। कश्चन। एनम्। हृदा। मनीषा। मनसा। अभिक्लृप्तः। ये। एतत्। विदुः। अमृताः। ते। भवन्ति।

(अस्य) इस परमात्मा का (रूपम्) पूर्वोक्त स्वरूप (सन्दृशे, न तिष्ठति) प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। और (एनम्) इसको (चक्षुषा) नेत्र आदि इन्द्रियों से (कश्चन) कोई (न, पश्यति) नहीं देख सकता है। (मनीषा) विकल्प-रहित (हृदा) हृदयदेश में स्थित बुद्धि के द्वारा (मनसा) मनन की सहायता से (अभिक्लृप्तः) वह अभिव्यक्त होता है। (ये) जो पुरुष (एतत्) ऐसे उस परमात्मा को (विदुः) जान लेते हैं (ते) वे (अमृताः) अमृत (भवन्ति) हो जाते हैं।

व्याख्या—परमात्मा का कोई रूप न होने के कारण उसका चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। पूर्वोक्त श्लोकों में उसको अलिङ्ग और सर्वव्यापक आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। जो प्राणी

अपने सुसंस्कृत मन से परमात्मा का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करते हैं वही उसको जान सकते हैं, अन्य नहीं। किन्तु जो उसको जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं अर्थात् वे आवागमन (जन्म और मृत्यु) के बन्धन से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं।

अब आत्मा (जीवात्मा) को प्राप्त होने वाली मुक्ति-अवस्था का कथन करते हैं :—

[शां०—कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनम्। उपपद्यत इत्युच्यते—न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्। अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिद् अप्येनं प्रकृत-मात्मानम्। कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते। हृदा हृत्स्थया बुद्धया। मनीषा मनसः सङ्कल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषा विकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः। तम् आत्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १०॥

पद०—यदा। पञ्च। अवतिष्ठन्ते। ज्ञानानि। मनसा। सह। बुद्धिः। च। विचेष्टति। ताम्। आहुः। परमाम्। गतिम्।

(यदा) जब (पञ्च) पाँचों (ज्ञानानि) ज्ञानेन्द्रियाँ (मनसा सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते), अवस्थान करती हैं और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न विचेष्टति) विविध विषयों की ओर चेष्टा नहीं करती है (ताम्) उसको ज्ञानी पुरुष (परमां गतिम्) परमगति अर्थात् मुक्ति (आहुः) कहते हैं।

व्याख्या—ज्ञानोत्पत्ति का साधन होने से चक्षुरादि इन्द्रियों को 'ज्ञान' कहा गया है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जिस समय अपने-अपने विषयों से उपरत होकर मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है ऐसी उस स्थिति को परमगति अथवा मुक्ति कहा जाता है।

भाव यह है कि जिस अवस्था में उक्त इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धादि विषयों का ग्रहण नहीं करतीं तथा मन भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है और यह लोक-विषयणी बुद्धि भी ज्ञान का काम नहीं देती है, किन्तु केवल आत्मा स्वसामर्थ्य ही उस अवस्था में अवशिष्ट रह जाता है, मननशील ज्ञानी पुरुष इसी अवस्था को मुक्ति अवस्था कहा करते हैं। इसी अवस्था में साधक निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है।

[**शां०**—सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निर्वर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि—ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते—अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादि-व्यावृत्तेनान्तःकरणेन, बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १०]

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

पद०—ताम् । योगम् । इति । मन्यन्ते । स्थिराम् । इन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तः । तदा । भवति । योगः । हि । प्रभवाप्ययौ ।

(ताम्) उस (स्थिराम्) स्थिर (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों की धारणा को (योगं इति मन्यन्ते) "योग" माना गया है अथवा कहा गया है। (तदा) उस अवस्था में साधक (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित हो जाता है। (हि) क्योंकि (योगः) योग ही (प्रभवाप्ययौ) शुभ संस्कारों का प्रवर्त्तक तथा अशुभ संस्कारों का निवर्त्तक होता है।

व्याख्या—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग कहलाता है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों सहित मन और बुद्धि चेष्टाविहीन हो जाती है। और आत्मा अपने स्वस्वरूप में स्थित होकर क्लेशादि प्रमादों रहित हो जाता है।

[**शां०**—तामीदृशीं तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्या ... इन्द्रियधारणां स्थिरामचलाम्

इन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते । अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतः अभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः ? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥]

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

पद०—न । एव । वाचा । न । मनसा । प्राप्तुम् । शक्यः । न । चक्षुषा । अस्ति । इति । ब्रुवतः । अन्यत्र । कथम् । तत् । उपलभ्यते ।

वह परमातमा (वाचा न एव) न वाणी के ही द्वारा, (न चक्षुषा) न चक्षु के द्वारा तथा (न मनसा) न मन के द्वारा ही (प्राप्तुं शक्यः) प्राप्त करने योग्य है । (अस्ति इति) वह है ऐसा (ब्रुवतः) कथन करने वाले व्यक्ति के (अन्यत्र) सिवाय (तत्) वह परमातमा (कथम्) कैसे (उपलभ्यते) प्राप्त किया जा सकता है ?

व्याख्या—इस 'योग' अवस्था में सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण में लय हो जाती हैं । इस योग में स्थिर होने वाला योगी प्रमादरहित हो जाता है, शान्त रहता है । मन की शान्ति से वह एक शान्त स्थिति का अनुभव-करने लगा करता है । ऐसी स्थिति में ही वह परमात्म-दर्शन का पात्र बनता है । मन, वाणी अथवा चक्षु से इस परमातमा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है । 'वह है' ऐसा विश्वास करने पर ही उसके विषय में हम जान सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

[**शां०**—बुद्धियादि चेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावात् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म । यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासद् इत्यतश्चानर्थको योगः अनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त उच्यते—सत्यम् नैव वाचा न मनसा न

चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो

मूलम् इत्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्य अस्तित्वनिष्ठत्वात्। तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति। यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते। बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे। मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत। न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादिमृदाद्यन्वितम्। तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यम्। कस्मात्? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयति इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥]

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

पद०—अस्ति। इति। एव। उपलब्धव्यः। तत्त्वभावेन। च। उभयोः। अस्ति। इति। उपलब्धस्य। तत्त्वभावः। प्रसीदति।

(च) और (उभयोः) दोनों में अर्थात् 'अस्ति', 'नास्ति' इन दोनों में (तत्त्वभावेन) सत्यरूप से (अस्ति) उसकी सत्ता (इति एव) है ही, यही (उपलब्धव्यः) जानना अथवा मानना ठीक है क्योंकि (अस्ति इति एव) 'वह है' ऐसा ही (उपलब्धस्य) जानने वाले को (तत्त्वभावः) तत्त्वज्ञान (प्रसीदति) प्रकाशित होता है अथवा प्राप्त होता है।

व्याख्या—अस्ति और नास्ति इन दोनों भावों में से 'अस्ति' (वह है) ऐसा मानने वाला ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहा करता है तथा 'नास्ति' (नहीं है) ऐसा मानने वाला प्राणी सदैव अप्रसन्न मन तथा दुःखी रहा करता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त योग में स्थित प्राणी को ही भगवान् के अस्तित्व की प्रतीति होकर उसका साक्षात्कार हो गया है, अन्य को नहीं। साक्षात्कार होने से उसे भगवत् आनन्द की अनुभूति होने लगा करती है कि जिसकी प्राप्ति के लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील था।

[**शां०**—तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षम् आसुरम्—अस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधि। यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यति-

रेकेण नास्ति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वमात्रो भवति तेन च रूपेण आत्मोपलब्धव्य इत्युनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—निर्धारणार्था षष्ठी—पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः 'नेति नेति' (बृ० उ० २।३।६, ३।९।२६) इति 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृ० उ० ३।८।८) 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० उ० २।७।१) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत् इत्येतत् ॥१३॥]

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

पद०—यदा । सर्वे । प्रमुच्यन्ते । कामाः । ये । अस्य । हृदि । श्रिताः । अथ । मर्त्यः । अमृतः । भवति । अत्र । ब्रह्म । समुश्नुते ।

(यदा) जब (अस्य) इस पुरुष की (हृदि) हृदय में (श्रिताः) स्थित (सर्वे कामाः) सम्पूर्ण कामनायें अथवा सांसारिक वासनायें (प्रमुच्यन्ते) छूट जाती हैं अथवा दूर हो जाती हैं तंब (अथ) इसके अनन्तर (मर्त्यः) यह मरणधर्मा पुरुष (अमृतः) अमृत (भवति) हो जाता है अर्थात् सांसारिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। परिणामस्वरूप वह (अत्र) इस अवस्था में (ब्रह्म) परमात्मा को (समश्नुते) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—वे सम्पूर्ण कामनायें, कि जो चिरकाल से मानव-हृदय में स्थित हैं, परमात्मज्ञान से निवृत्त होकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तब यह प्राणी मुक्ति-अवस्था को (जीवनमुक्तावस्था को) प्राप्त कर लेता है क्योंकि कामना अथवा वासना ही पुरुष के बन्धन का कारण होती है। कामनाओं अथवा वासनाओं की निवृत्ति हो जाने पर फिर कोई बन्धन का कारण नहीं रहा करता है। ऐसी स्थिति में फिर वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि जब पुरुष की हृद्गत सभी कामनायें अथवा वासनायें

शान्त हो जाती हैं तब वह ब्रह्म के अपहृतपाप्मादि धर्मों को धारण करके निष्पाप हो जाता है। इस अवस्था में वह तद्धर्मतापत्तिरूप योग से परमात्मा के आनन्द को अनुभव करने लगा करता है।

[**शां०**—एवं परमार्थदर्शिनो:—यदा यस्मिन्काले सर्वे कामा: कामयितव्य-स्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नात्मा। 'कामः संकल्पः' (बृ० उ० १।५।३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च। अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालकर्म-लक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति। गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्ते-रत्रैहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।।१४।।]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। १५ ।।

पद०—यदा। सर्वे। प्रभिद्यन्ते। हृदयस्य। इह। ग्रन्थयः। अथ। मर्त्यः। अमृतः। भवति। एतावत्। अनुशासनम्।

(यदा) जब (इह) इस शरीर में रहते हुये ही अथवा जन्म में (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे ग्रन्थयः) सम्पूर्ण कामरूपी गाँठें (प्रभिद्यन्ते) दूर हो जाती हैं अथवा छूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) यह मरणधर्मा मनुष्य (अमृतः) अमर हो जाता है। (एतावत्) यहाँ तक ही (अनुशा-सनम्) उपदेश हैं।

व्याख्या—जब इस मरणधर्मा पुरुष के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं अर्थात् जब स्त्री, पुरुष, धन इत्यादि पदार्थों के प्रति लोलुपता तथा "मैं दुःखी हूँ," "मैं सुखी हूँ" इत्यादि सभी धारणायें तत्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने से छिन्न-भिन्न अर्थात् नष्ट हो जाया करती हैं तब यह पुरुष सांसारिक कामनाओं अथवा वासनाओं से छुटकारा प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब पुरुष की मिथ्याज्ञानमूलक सम्पूर्ण वासनायें नष्ट हो जाती है तथा उसके प्रारब्धकर्म भोग द्वारा समाप्त हो जाते हैं तथा अन्य वासनाओं अथवा कामनाओं के न रहने के कारण अन्य प्रारब्धकर्म उत्पन्न ही नहीं होते हैं तब ऐसी स्थिति में मनुष्य का आत्मा अमर हो जाता है। इसी स्थिति को प्राप्त करने पर्यन्त शास्त्रों का उपदेश है।

अब ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा इस शरीर से किस भाँति उत्क्रान्ति करता है; इसका कथन करते हैं :—

[शां०—कदा पुनः कामनां मूलतो विनाश इत्युच्यते—यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः। अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहम् इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद् ब्रह्मैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयेतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या। अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥१५॥]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

पद०—शतम्। च। एका। च। हृदयस्य। नाड्यः। तासाम्। मूर्द्धानम्। अभिनिःसृता। एका। तया। ऊर्ध्वम्। आयन्। अमृतत्वम्। एति। विष्वङ्। अन्याः। उत्क्रमणे। भवन्ति।

(हृदयस्य) हृदय की (शतं च एका) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक (मूर्द्धानम्) ब्रह्मरन्ध्र में (अभिनिःसृता) गई है। (तया) उस नाड़ी के द्वारा (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व देश को (आयन्) गमन करता हुआ जीवात्मा (अमृतत्वं, एति) अमृतत्व [मोक्ष] को प्राप्त करता है (च) और (अन्या) अन्य [अर्थात् अवशिष्ट] सौ नाड़ियाँ (उत्क्रमणे) जीवात्मा के उत्क्रमण करने में (विष्वङ्) लोकान्तर गमन करने के लिये (भवन्ति) हुआ करती हैं।

व्याख्या—मनुष्य के हृदय-स्थल में १०१ (एक सौ एक) नाड़ियाँ हैं, यही समस्त शरीर में स्थान-स्थान की दृष्टि से फैली हुई हैं। जीवात्मा की उत्क्रान्ति हेतु ये नाड़ियाँ हैं। इनमें से एक नाड़ी है 'सुषुम्ना'। यह हृदय देश से मूर्द्धा देश की ओर (ब्रह्मरन्ध्र की ओर) चली गई है। इसी के द्वारा गमन् करने वाला योगी पुरुष अमृत-पद को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अन्य जो पुरुष संसारी हैं तथा माया-मोह के बन्धन में बँधे हुए हैं वे अन्य नाड़ियों द्वारा निष्क्रमण करके नाना लोकों में नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।

[शां०—निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादि-ग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात् ! 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्म-लोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते—प्रकृतो-त्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये । किं चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रयुक्ता च । तस्याश्च फल-प्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र—शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः निरस्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वा-भिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम । तयान्तकाले हृदय आत्मनं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायिन् गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम् । 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते (वि० पु० २।८।९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोक-गतान् । विष्वङ्नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसार-प्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ।।१६।।]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।।१७।।

पद०—अङ्गुष्ठमात्रः । पुरुषः । अन्तरात्मा । सदा । जनानाम् । हृदये । सन्निविष्टः । तम् । स्वात् । शरीरात् । प्रवृहेत् । मुञ्जात । इव । इषीकाम् । धैर्येण । तम् । विद्यात् । शुक्रम् । अमृतम् । तम् । विद्यात् । शुक्रम् । अमृतम् । इति ।

(अङ्गुष्ठमात्रः, पुरुषः) अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला, शरीररूपी पुरी में निवास करने वाला (अन्तरात्मा) अन्तरात्मा (सदा) सर्वदा (जनानाम्) प्राणियों के (हृदये) हृदयदेश में (सन्निविष्टः) सन्निविष्ट है । (मुञ्जात्) मूँज से (इषीकां, इव) सिरकी [उसके भीतर की लकड़ी अथवा सेंटा] निकालने के समान उसको (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से (धैर्येण)

धैर्य के साथ (प्रवृहेत्) अलग करे और (तम्) उसी को (शुक्रम्) शुद्ध (अमृतम्) अमृत (विद्यात्) जाने, (तम्, शुक्रं, अमृतं, विद्यात्, इति) उसी को शुद्ध अमृत जाने ।

व्याख्या—'पुरि शेते इति पुरुषः' शरीररूपी पुरी में निवास करने से जीवात्मा को पुरुष कहा जाता है । [ब्रह्माण्डरूपी पुरी में निवास करने से परमात्मा को पुरुष कहा जाता है ।] यह पुरुष-जीवात्मा सभी प्राणियों के शरीरों में हृदय स्थान में स्थित रहा करता है । मोक्ष की इच्छा रखने वाले प्राणियों को उचित है कि वह अपने आत्मा को धीरे-धीरे शरीर के बन्धन से इस प्रकार पृथक् करें कि जिस भाँति धीरे-धीरे पहले मूँज को पृथक् कर उसके उसके अन्दर की सिरकी को पृथक् कर लिया जाता है । शरीर से सर्वथा पृथक् आत्मसत्ता का अनुभव कराने वाला यह अनुष्ठान है । निःसंदेह यही विशुद्ध अमृत है ।

यहाँ पर 'तं विद्यात् शुक्रममृतमिति' पाठ दो बार आया है । यह पाठ यहाँ पर इस उपनिषद् की समाप्ति का सूचक है । इसी कारण द्विरुक्ति हुई है ।

अब नचिकेता सम्बन्धी इस कथा का उपसंहार द्वारा फल कथन करते हैं :—

[**शां०**—इदानीं सर्ववल्लयर्थोपसंहारार्थमाह—अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेत् उद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृक्कुर्यादित्यर्थः । किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तस्थां धैर्येणाप्रमादेन । तं शरीरन्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्त ब्रह्मेति । द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ।। १७ ।।]

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।। १८ ।।

पद०—मृत्युप्रोक्ताम् । नचिकेतः । अथ । लब्ध्वा । विद्याम् । एताम् ।

योगविधिम् । च । कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तः । विरजः । अभूत् । विमृत्युः । अन्यः । अपि । एवम् । यः । वित् । अध्यात्मम् । एव ।

(अथ) इसके पश्चात् उक्त कथा का फल कहते हैं । (मृत्युप्रोक्ताम्) यम द्वारा कथित (एतां विद्याम्) इस ब्रह्मविद्या को (च) और (कृत्स्नं, योगविधिम्) सम्पूर्ण योग-विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त कर अथवा उसके ज्ञान को प्राप्तकर (नचिकेतः) नचिकेता (विरजः) निर्दोष अथवा रागादि से रहित तथा (विमृत्युः) मृत्यु के भय से रहित होकर (ब्रह्मप्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त (अभूत्) हुआ । (अन्यः, अपि) अन्य भी (यः) जो (अध्यात्मम्) इस अध्यात्मविद्या को (एवं वित्) इस प्रकार से जानता है वह भी (एव) ऐसा ही हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या—इस श्लोक में ब्रह्म-विद्या के फल का वर्णन किया गया है । यम के द्वारा दिए गए उपदेश को सुनकर उद्दालक का पुत्र नचिकेता सांसारिक रागादि भावों से रहित तथा मृत्यु के भय से अर्थात् आवागमन के [बार-बार जन्म और मृत्यु के बन्धन से पृथक् होकर] बन्धन से पृथक् होकर ब्रह्म को प्राप्त हुआ । तात्पर्य यह है कि उसने परमात्मा के उस अमृत [मोक्ष, परमधाम अथवा मुक्ति] पद को प्राप्त कर लिया कि जिसकी प्राप्ति कर लेना ही एकमात्र मानव जीवन का लक्ष्य है । अन्य पुरुष भी जो कि इस भाँति इस ब्रह्म-विद्या को प्राप्त कर लेगा यह भी संसार के बन्धन एवं त्रिविध तापों से पृथक् होकर ब्रह्म के उस अमृत-पद को प्राप्त कर लेगा ॥

[शां०—विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते--मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत्; नचिकेता वरप्रदानात् मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः, किम् ? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः । कथम् ? विद्याप्राप्तया विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः । न केवलं नचिकेता एव अन्योऽपि नचिकेतोवदात्मविद् अध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम् । तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(यह १९वाँ श्लोक ग्रन्थ के (पृ० १) मंगलाचरण में भी कहा गया है। इसकी संस्कृत-हिन्दी व्याख्या वहीं देखें।)

इस प्रकार डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री विरचित द्वितीय-अध्याय की हिन्दी-व्याख्या समाप्त।

[शां०--शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोष-प्रशमनार्थेयं शान्तिः उच्यते--सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन। कः ? स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः। किं च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाश-नेन नौ पालयतु। सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै। किं च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु। अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्तु इत्यर्थः। मा विद्विषावहै शिष्या-चार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः। शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्यो-मिति ॥१९॥]

[इति श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥]

—: ❀ :—

॥ इति कठोपनिषदि द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥

—: ❀ :—

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

—: ❀ :—

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के प्रकाशन

वेदान्तसारः (वेदान्तः) । सदानन्द । 'भावबोधिनी' संस्कृत–हिन्दी व्याख्या सहित । श्री रामशरण त्रिपाठी शास्त्री — ९–००

वासवदत्ता (गद्यकाव्यम्) । महाकवि सुबन्धु । 'चपला' संस्कृत–हिन्दी व्याख्या सहित । पं० शङ्करदेव शास्त्री — २५–००

संस्कृतालोकः (व्याकरणम्) । पं० रामबालक शास्त्री । १–३ किरण — ६–००

तर्कामृतम् (न्यायः) । श्री जगदीश भट्टाचार्य । 'प्रकाश' संस्कृत–हिन्दी व्याख्या सहित । आचार्य रामचन्द्र मिश्र — ५–००

दशरूपकम् (अलङ्कारः) । धनञ्जयकृतम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित । डॉ० भोलाशङ्कर व्यास — २५–००

शिशुपालवधम् (काव्यम्) । महाकवि माघ । मल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' संस्कृत टीका एवं 'मणिप्रभा' हिन्दी व्याख्या सहित । पं० हरगोविन्द शास्त्री
१–६ सर्ग २०–०० सम्पूर्ण ८५–००

संस्कृत स्वयं-शिक्षक प्रभा (व्याकरणम्) । गौरीशंकर शास्त्री — यन्त्रस्थ

महावीरचरितम् (नाटकम्) । महाकवि भवभूति । 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित । आचार्य रामचन्द्र मिश्र — ३०–००

रसगङ्गाधरः (अलङ्कारः) । पण्डितराज जगन्नाथ । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १–३ भाग सम्पूर्ण २००–०० । प्रथमाननपर्यन्त प्रथम भाग — ४०–००
द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त द्वितीय भाग — ८०–००
अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्त तृतीय भाग — ८०–००

कर्पूरमंजरी (नाटकम्) । राजशेखर । 'मकरन्द' संस्कृत–हिन्दी व्याख्या सहित । श्रीरामकुमार आचार्य — १०–००

संस्कृतवाङ्मयपरिचयः (साहित्येतिहासः) । मधुसूदनप्रसाद मिश्र — यन्त्रस्थ

प्रबोधचन्द्रोदयम् (नाटकम्) । श्रीकृष्णमिश्र । 'प्रकाश' संस्कृत–हिन्दी टीका सहित । आचार्य रामचन्द्र मिश्र — १५–००

काव्यप्रकाशः (अलङ्कारः) । आचार्य मम्मट । 'शशिकला' हिन्दी टीका सहित । डॉ० सत्यव्रत सिंह । सम्पूर्ण — ५०–००

ऋतुसंहारम् (काव्यम्) । महाकवि [illegible] हिन्दी टीका सहित । श्री केदारनाथ शर्मा — [illegible]००